

पच्चीस बोल

संसार में मूल दो तत्त्व हैं-जड़ और चेतन। चराचर सम्पूर्ण जगत इन्हीं दो मूलभूत तत्त्वों का विस्तार है। संसारी जीव अनन्त काल से कर्मानुसार एक पर्याय से दूसरी पर्याय में गमन करता है। जीव-अजीव तत्त्वों की अनेक अपेक्षाओं से इस थोकड़े में विवेचना की गई है। सबसे पहले संसारी जीवों की गतियों के आधार पर विवेचना की गयी है।

1) पहले बोले गति चार - 1. नरकगति, 2. तिर्यञ्चगति, 3. मनुष्यगति,
4. देवगति।

• आधार- 1. स्थानांग सूत्र का चौथा ठाणा।

गति- गमन करना अथवा चलना। संसारी जीवों का एक भव को छोड़कर दूसरे भव में जाना 'गति' कहलाती है। गति मुख्य रूप से चार हैं- नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति।

1. नरक गति-

(1) जहाँ पर जीव अपने द्वारा संचित अशुभ कर्मों का असाता रूप भयंकर फल अधिक भोगता हो उसे 'नरकगति' कहते हैं।

(2) जहाँ पर जीवों को तीन प्रकार की वेदना अधिक भोगनी पड़ती है उसे भी 'नरक गति' कहते हैं। तीन प्रकार की वेदना इस प्रकार हैं-

(क) क्षेत्र वेदना- यह स्थान सम्बन्धी वेदना है। नारकी के जीवों को 1. अनन्त भूख, 2. अनन्त प्यास, 3. अनन्त शीत, 4. अनन्त उष्ण, 5. अनन्त ज्वर, 6. अनन्त खुजली, 7. अनन्त रोग, 8. अनन्त अनाश्रय, 9. अनन्त शोक और 10. अनन्त भय, ये दस प्रकार की वेदना भोगनी पड़ती हैं।

(ख) देवकृत वेदना- तीसरी नारकी तक के जीवों को परमाधामी देवों के द्वारा अनन्त दुःख देने से होने वाली वेदना देवकृत वेदना है।

(ग) परस्परकृत वेदना- नारकी के जीव परस्पर एक-दूसरे से लड़-झगड़कर दुःखी होते रहते हैं।

2. तिर्यञ्च गति-

(1) प्रायः तिरछे लोक में रहने वाले जीवों की गति को 'तिर्यञ्च गति' कहते हैं। इनको नरक जैसा अधिक दुःख और देव जैसा अधिक सुख दोनों ही नहीं होते।

(2) जिन जीवों का शरीर प्रायः तिरछा-टेढ़ा-मेढ़ा होता है, उन जीवों की गति को भी 'तिर्यञ्च गति' कहते हैं।

जिस गति में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक पाँचों जाति के जीव पाये जाते हों उसे भी 'तिर्यञ्च गति' कहते हैं।

3. मनुष्य गति-

जिन जीवों में हेय, ज्ञेय, उपादेय के बारे में चिन्तन-मनन करने की शक्ति हो, जिस गति में आत्मा पर लगे सभी कर्मों को तप-संयम के द्वारा क्षय किया जा सकता हो उसे 'मनुष्य गति' कहते हैं। मनन करने से मनुष्य होता है।

4. देव गति-

जहाँ पर जीव अपने किये हुए कर्मों का सातारूप फल अधिक भोगते हैं तथा अनेक प्रकार की दिव्य भौतिक ऋद्धियों को प्राप्त करते हैं उसे 'देव गति' कहते हैं। देवता चार प्रकार के होते हैं- (1) भवनपति, (2) वाणव्यन्तर, (3) ज्योतिषी और (4) वैमानिक।

2) दूसरे बोले जाति पाँच - 1. एकेन्द्रिय, 2. बेइन्द्रिय, 3. तेइन्द्रिय, 4. चउरिन्द्रिय, 5. पंचेन्द्रिय।

- आधार- पन्नवणा 23 वाँ पद, उद्देशक दूसरा।

जाति- इन्द्रियों के आधार पर जीवों के बनाये हुए समूह को 'जाति' कहते हैं। अर्थात् समान इन्द्रियों वाले जीवों के समूह को 'जाति' कहते हैं। जीवों की मूल जातियाँ पाँच हैं। जैसे- एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

1. **एकेन्द्रिय-** जिनके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय ही हो, ऐसे जीवों के समूह को 'एकेन्द्रिय' जाति कहते हैं। एकेन्द्रिय में पृथ्वी, अप, तैजस, वायु और वनस्पतिकाय के सभी जीवों को समावेश हो जाता है।
2. **बेइन्द्रिय-** जिनके स्पर्शन और रसना, ये दो इन्द्रियाँ हों, ऐसे जीवों के समूह को 'बेइन्द्रिय' जाति कहते हैं। जैसे कृमि, लट, शंख, सीप, नारू, अलसिया आदि।
3. **तेइन्द्रिय-** जिनके स्पर्शन, रसना और घ्राण, ये तीनों इन्द्रियाँ हों, ऐसे जीवों के समूह को 'तेइन्द्रिय' जाति कहते हैं। जैसे चींटी, खटमल, जूँ, लीख, सुलसुली, इली, कुंथुआ आदि।
4. **चउरिन्द्रिय-** जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु, ये चारों इन्द्रियाँ हों, उन जीवों के समूह को 'चउरिन्द्रिय' जाति कहते हैं। जैसे- मक्खी, मच्छर, बिच्छु, भंवरा, कसारी आदि।
5. **पंचेन्द्रिय-** जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, ये पाँचों इन्द्रियाँ हों, ऐसे जीवों के समूह को 'पंचेन्द्रिय' जाति कहते हैं। जैसे- पशु, पक्षी, मछली, सर्प, मनुष्य, नारक, देवता आदि।

3) तीसरे बोले काय छह - 1. पृथ्वीकाय, 2. अप्काय, 3. तैजसकाय, 4. वायुकाय, 5. वनस्पतिकाय, 6. त्रसकाय।

- आधार- ठाणांग सूत्र, ठाणा 6, सूत्र 480, दशवै.अ. 4

काय- शरीर के आधार पर जीवों के बनाये हुए समूह को 'काय' कहते हैं। विभिन्न प्रकार के पुद्गलों से बने शरीरों के द्वारा जीव के जो विभाग होते हैं उन्हें 'काय' कहते हैं। काय सब जीवों की आधार है, वह छः प्रकार की होती है-

1. **पृथ्वीकाय-** पृथ्वीरूप ही जिन जीवों का शरीर है, उनकी काय को 'पृथ्वीकाय' कहते हैं। जैसे- सोना, चाँदी, शीशा, लोहा, ताम्बा, कोयला, कंकर, पत्थर आदि।
2. **अप्काय-** पानीरूप ही जिन जीवों का शरीर है, उनकी काय को 'अप्काय' कहते हैं। जैसे- कुएँ, तालाब, बावड़ी, नदी, नलकूप, ओस, बरसात आदि का पानी।
3. **तैजसकाय-** अग्निरूप ही जिन जीवों का शरीर है, उनकी काय को 'तेउकाय' कहते हैं। जैसे- विद्युत्, सेल, चूल्हे आदि की अग्नि।
4. **वायुकाय-** वायुरूप ही जिन जीवों का शरीर है, उनकी काय को 'वायुकाय' कहते हैं। जैसे- सभी प्रकार की हवा।
5. **वनस्पतिकाय-** वनस्पतिरूप ही जिन जीवों का शरीर है, उनकी काय का 'वनस्पतिकाय' कहते हैं। जैसे- लीलोती, लीलन, फूलण आदि।
6. **त्रसकाय-** हलन-चलन करने वाले जीवों के शरीर को 'त्रसकाय' कहते हैं। अथवा सुख पाने व दुःख से बचने के लिए जो विशेष प्रयत्न कर सके, उन्हें भी त्रस कहते हैं।

पृथ्वीकाय आदि की गणना जीवों के आधार पर की जाती है। यदि उनमें जीव नहीं हो अर्थात् यदि पृथ्वी आदि अचित्त हो जाय तो उन्हें सम्बन्धित काय में सम्मिलित नहीं किया जाता है।

4) चौथे बोले इन्द्रिय पाँच - 1. श्रोत्रेन्द्रिय, 2. चक्षुरिन्द्रिय, 3. घ्राणेन्द्रिय, 4. रसनेन्द्रिय, 5. स्पर्शनेन्द्रिय।

इन्द्रिय - शरीर के जिन अवयवों से शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श आदि का ज्ञान होता हो, उसे 'इन्द्रिय' कहते हैं। संसारी जीवों के ज्ञान प्राप्ति के साधन को 'इन्द्रिय' कहते हैं। जीव 'इन्द्र' कहलाता है अतः इन्द्र के चिह्न को भी 'इन्द्रिय' कहते हैं। इन्द्रियाँ पाँच हैं-

1. **श्रोत्रेन्द्रिय-** जीव जिसके द्वारा जीव, अजीव और मिश्र शब्दों को ग्रहण करके अथवा सुनकर के ज्ञान प्राप्त करता है, उसे 'श्रोत्रेन्द्रिय' कहते हैं।
2. **चक्षुरिन्द्रिय-** जीव जिसके द्वारा रूप अर्थात्- काला, नीला, लाल, पीला और सफेद वर्ण को ग्रहण कर ज्ञान प्राप्त करता है, उसे 'चक्षुरिन्द्रिय' कहते हैं।
3. **घ्राणेन्द्रिय-** जीव जिसके द्वारा सुगन्ध व दुर्गन्ध को ग्रहण कर ज्ञान प्राप्त करता है, उसे 'घ्राणेन्द्रिय' कहते हैं।
4. **रसनेन्द्रिय-** जीव जिसके द्वारा तीखा, कड़वा, कषैला, खट्टा और मीठा, इन पाँच प्रकार के रस को ग्रहण करता है, उसे 'रसनेन्द्रिय' कहते हैं।
5. **स्पर्शनेन्द्रिय-** जीव जिसके द्वारा खुरदरा, कोमल, हल्का, भारी, ठण्डा, गर्म और लुखा, चिकना इन आठ प्रकार के स्पर्श को ग्रहण करता है, उसे 'स्पर्शनेन्द्रिय' कहते हैं।
एकेन्द्रिय में एक- स्पर्शनेन्द्रिय, बेइन्द्रिय में दो- स्पर्शन और रसना, तेइन्द्रिय में तीन- घ्राणेन्द्रिय बढ़ी, चउरिन्द्रिय में चार-चक्षु इन्द्रिय के मिलाने पर व पंचेन्द्रिय में समस्त पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं। संसारस्थ जीवों में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो सर्वथा इन्द्रियों से रहित हो। एकेन्द्रिय जीवों का आहार, श्वास ग्रहण आदि क्रियाएँ स्पर्शनेन्द्रिय से ही होती हैं।

5) पाँचवें बोले पर्याप्ति छह - 1. आहार पर्याप्ति, 2. शरीर पर्याप्ति, 3. इन्द्रिय पर्याप्ति, 4. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, 5. भाषा पर्याप्ति और 6. मन पर्याप्ति।

• आधार- भगवती सूत्र श. 3 उ. 1, प्रज्ञापना- 28 वाँ पद।

पर्याप्ति - पर्याप्ति: नाम शक्ति:। अर्थात्- परिणामन करने की शक्ति को 'पर्याप्ति' कहते हैं। वह शक्ति विशेष की पूर्णता जिससे जीव पुद्गल को ग्रहण करके उन्हें आहार, शरीर, इन्द्रियादि रूपों में परिणत करता है, उसे 'पर्याप्ति' कहते हैं। पर्याप्ति के छः भेद इस प्रकार हैं-

1. **आहार पर्याप्ति-** आहार के पुद्गलों को ग्रहण करके खल व रस के रूप में परिणत करने की जीव की शक्ति विशेष को 'आहार पर्याप्ति' कहते हैं। खल का अर्थ है- सार रहित भाग और रस का अर्थ है- सार भाग।
2. **शरीर पर्याप्ति-** रस रूप में परिणत पुद्गलों को धातु रूप में परिणत करने की जीव की शक्ति विशेष को 'शरीर पर्याप्ति' कहते हैं। जैसे औदारिक शरीर में सप्त धातुएँ- रस, रक्त, मांस, मेद, हड्डी, मज्जा और वीर्य। इसी प्रकार वैक्रिय व आहारक शरीर में उन-उनके योग्य धातु रूप में परिणामन करने की शक्ति समझना चाहिए।
3. **इन्द्रिय पर्याप्ति-** शरीर पर्याप्ति द्वारा परिणत सप्त धातुओं से कान, आँख, नासिका आदि इन्द्रियों का निर्माण करने एवं उस रूप में परिणत करने की जीव की शक्ति विशेष को 'इन्द्रिय पर्याप्ति' कहते हैं।
4. **श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति-** जीव, श्वासोच्छ्वास योग्य सूक्ष्म पुद्गलों को ग्रहण कर श्वास एवं उच्छ्वासरूप में परिणत करे, उस शक्ति विशेष को 'श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति' कहते हैं।
5. **भाषा पर्याप्ति-** जीव, भाषा योग्य सूक्ष्म पुद्गलों को ग्रहण कर बोलने की योग्यता प्राप्त करे, वचनरूप में परिणत करे अर्थात्-बोलने की शक्ति विशेष को 'भाषा पर्याप्ति' कहते हैं।
6. **मन पर्याप्ति-** मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके चिन्तन-मननरूप में परिणत करने की जीव की शक्ति विशेष को 'मन पर्याप्ति' कहते हैं।

6) छठे बोले प्राण दस - 1. श्रोत्रेन्द्रिय- बलप्राण, 2. चक्षुरिन्द्रिय-बलप्राण, 3. घ्राणेन्द्रिय- बलप्राण, 4. रसनेन्द्रिय-बलप्राण, 5. स्पर्शनेन्द्रिय- बलप्राण, 6. मनोबलप्राण, 7. वचन-बलप्राण, 8. काय-बलप्राण, 9. श्वासोच्छ्वास-बलप्राण, 10. आयुष्य-बलप्राण।

• आधार- स्थानांग सूत्र स्थान दस की टीका।

प्राण - जिसके द्वारा शरीरधारी जीवन धारण करे अथवा जिनके सहारे जीव जीवित रहे उसे, 'प्राण' कहते हैं अथवा जीवन जीने की शक्ति विशेष को 'प्राण' कहते हैं। ये प्राण दस प्रकार के हैं-

1. **श्रोत्रेन्द्रिय-बलप्राण-** कानों के द्वारा शब्दों को ग्रहण करने की अथवा सुनने की शक्ति विशेष को 'श्रोत्रेन्द्रिय-बलप्राण' कहते हैं।
2. **चक्षुरिन्द्रिय-बलप्राण-** आँखों के द्वारा देखने की शक्ति विशेष को 'चक्षुरिन्द्रिय-बलप्राण' कहते हैं।
3. **घ्राणेन्द्रिय-बलप्राण-** नासिका के द्वारा गंध ग्रहण करने की शक्ति विशेष को 'घ्राणेन्द्रिय-बलप्राण' कहते हैं।
4. **रसनेन्द्रिय-बलप्राण-** रसना के द्वारा खट्टा, मीठा आदि स्वाद को ग्रहण करने की शक्ति विशेष को 'रसनेन्द्रिय-बलप्राण' कहते हैं।
5. **स्पर्शनेन्द्रिय-बलप्राण-** पदार्थ में रहे हुए ठंडे, गर्म आदि आठ प्रकार के स्पर्शों को ग्रहण करने की शक्ति विशेष को 'स्पर्शनेन्द्रिय-बलप्राण' कहते हैं।
6. **मनोबलप्राण-** द्रव्य मन की सहायता से किसी भी प्रकार का चिन्तन-मनन करने की शक्ति विशेष को 'मनोबलप्राण' कहते हैं।
7. **वचन-बलप्राण -** भाषा वर्गणा के पुद्गलों की सहायता से वचन बोलने की शक्ति विशेष को 'वचन-बलप्राण' कहते हैं।
8. **काय-बलप्राण -** औदारिक, वैक्रिय आदि शरीर के माध्यम से चलने-फिरने, उठने-बैठने की शक्ति विशेष को 'काय-बलप्राण' कहते हैं।
9. **श्वसोच्छ्वास-बलप्राण -** श्वसोच्छ्वास वर्गणा के पुद्गलों की सहायता से श्वास लेने और श्वास छोड़ने की शक्ति विशेष को 'श्वसोच्छ्वास बलप्राण' कहते हैं।
10. **आयुष्य-बलप्राण -** एक निश्चित समय तक निश्चित भव में जीवित रहने की शक्ति विशेष को 'आयुष्य बलप्राण' कहते हैं।

7) सातवें बोले शरीर पाँच - 1. औदारिक, 2. वैक्रिय, 3. आहारक, 4. तैजस और, 5. कर्मण।

• आधार- ठाणांग 5 सूत्र 395, प्रज्ञापना पद 21 सूत्र 267

शरीर - जीव के क्रिया करने के साधन को 'शरीर' कहते हैं। 'शीर्यते तत् शरीरम्' इस व्याख्या के अनुसार-जो उत्पत्ति समय से लेकर प्रतिक्षण क्षीण होता रहे, बदलता रहे उसे 'शरीर' कहते हैं तथा जिसके द्वारा भौतिक सुख-दुःख आदि का अनुभव होता है उसे 'शरीर' कहते हैं अथवा संसारी जीव जिसमें रहकर अपने शुभाशुभ कर्मों का भोग करे उसे भी 'शरीर' कहते हैं (भोगायतनम् शरीरम्)।

शरीर के पाँच भेदों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है-

1. **औदारिक शरीर-** जो रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि आदि स्थूल पुद्गलों से बना हो, उसे 'औदारिक शरीर' कहते हैं। जो शरीर उदार अर्थात् प्रधान हो एवं जो स्थूल पुद्गलों वाला हो, उसे 'औदारिक शरीर' कहते हैं। जिस शरीर में रहकर जीव अपने सभी कर्मों का क्षय कर सके, उसे भी 'औदारिक शरीर' कहते हैं। प्राण निकलने के बाद जिसका कलेवर (शव) पड़ा रहे, उसे भी 'औदारिक शरीर' कहते हैं।
2. **वैक्रिय शरीर-** जिस शरीर में विविध अथवा विशेष प्रकार की क्रियाएँ होती हैं, उसे 'वैक्रिय शरीर' कहते हैं। जैसे- एक रूप होकर अनेक रूप धारण करना, छोटा-बड़ा शरीर बनाना, दृश्य-अदृश्य रूप बनाना आदि।
वैक्रिय शरीर दो प्रकार का होता है- (1) भव प्रत्यय, (2) लब्धि प्रत्यय। पहला देवों और नारकों में जन्म के साथ ही होता है। दूसरा मनुष्य और तिर्यञ्चों को जप-तप आदि विशिष्ट साधना द्वारा लब्धि से प्राप्त होता है।
औदारिक की तरह वैक्रिय शरीर में अस्थि-मांस आदि नहीं होते। वैक्रिय शरीरधारी के प्राण छूटने पर कपूर की तरह वैक्रिय पुद्गल बिखर जाते हैं, कलेवर पड़ा नहीं रहता।
3. **आहारक शरीर-** चौदह पूर्वधारी प्रमत्त अणगार, लब्धि से अपने शरीर में से अति विशुद्ध स्फटिक के सदृश्य एक हाथ के पुतले के बराबर शरीर बनाते हैं उसे 'आहारक शरीर' कहते हैं। यह शरीर साधिव्यों में नहीं होता। चौदह पूर्वधारी मुनि तीर्थकर की ऋद्धि देखने अथवा चौदह पूर्वों को चितारते समय स्वयं को शंका हो जाने पर अथवा कोई वादी आकर प्रश्न करें और उस समय उपयोग नहीं लगने पर इस आहारक शरीर को तीर्थकर या केवली के पास भेजते हैं। संशय निवारण के पश्चात् यह शरीर वहीं बिखर जाता है तथा उसमें रहे हुए आत्म-प्रदेश मुनिराज के औदारिक शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। कोई हिंसक, क्रूर, अन्याय प्रकृति का शासक नरसंहार, पशुबलि आदि के हिंसक कार्यों में प्रवृत्त हो, समझाने पर भी नहीं माने तो एक हाथ का पुतला बनाकर उस शासक के पास भेजता है, नभ में उद्घोषणा करता है, हिंसा के दुष्परिणामों से शासक को

अवगत कराता है, जिससे वह हिंसाजन्य प्रवृत्ति को बन्द कर देता है, इस प्रकार जीवदया के लिए भी आहारक लब्धि का प्रयोग किया जाता है। यह सारी प्रक्रिया अन्तर्मुहूर्त्त में पूरी हो जाती है।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि तीर्थंकर भगवान के पास स्वयं की शंका निवारण, वादी के प्रश्न का उत्तर तथा ऋद्धि दर्शन हेतु आहारक शरीर भेजा जाता है। जबकि सामान्य केवली के पास स्वयं की शंका निवारण, व वादी के प्रश्नों का उत्तर पाने हेतु इन दो कारणों से ही आहारक शरीर भेजा जाता है, ऋद्धि दर्शन हेतु नहीं।

4. **तैजस शरीर**- तेजोमय पुद्गलों से बना जो शरीर खाये हुए आहार के पुद्गलों को पचाने का काम करता है, उसे 'तैजस शरीर' कहते हैं। शरीर में विद्यमान उष्णता व जठराग्नि इसी के कारण प्रकट होती है। विशेष साधना या घोर तपस्या द्वारा व्यक्ति विशेष को तेजोलब्धि उत्पन्न होती है। जब वह उस लब्धि का प्रयोग करता है उस समय भी तैजस शरीर की मुख्यता रहती है। तेजोलब्धि उष्ण और शीत लब्धि की अपेक्षा से दो प्रकार की होती है। यह शरीर सभी संसारी जीवों में पाया जाता है।
5. **कार्मण शरीर**- कार्मण वर्गणाओं का वह समूह जो आत्मा के साथ एक ही क्षेत्र में दूध और पानी की तरह मिलकर रहा हुआ है तथा अन्य कर्मों एवं उनकी प्रकृतियों को भी व्यवस्थित रखता है, वह 'कार्मण' शरीर कहलाता है। जीव और कर्म पुद्गलों का आपस में अनादि सम्बन्ध है। 'कार्मण शरीर' सभी संसारी जीवों में पाया जाता है।

8) **आठवें बोले योग पन्द्रह - (चार मन के) 1. सत्य मनोयोग, 2. असत्य मनोयोग, 3. मिश्र मनोयोग, 4. व्यवहार मनोयोग, (चार वचन के) 5. सत्य भाषा, 6. असत्य भाषा, 7. मिश्र भाषा, 8. व्यवहार भाषा, (सात काय के) 9. औदारिक, 10. औदारिक मिश्र, 11. वैक्रिय, 12. वैक्रिय मिश्र, 13. आहारक, 14. आहारक मिश्र और, 15. कार्मण काययोग।**

● **आधार**- भगवती शतक 25 उद्देशक 1, प्रज्ञापना पद 16

योग- योग का अर्थ है- जीव के साथ मन, वचन और काय की क्रिया का जुड़ना। वीर्यान्तराय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से होने वाली मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को 'योग' कहते हैं।

मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से आत्म-प्रदेशों में जो स्पन्दन (कम्पन-हलन-चलन) होता है, उसे भी 'योग' कहते हैं। योग के पन्द्रह भेद इस प्रकार हैं-

1. **सत्य मनोयोग**- पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का चिन्तन करना 'सत्य मनोयोग' है।
2. **असत्य मनोयोग**- जिस प्रकार का वस्तु का स्वरूप नहीं है, उस रूप में उसका विचार-चिन्तन करना 'असत्य मनोयोग' कहलाता है।
3. **मिश्र मनोयोग**- सत्य और असत्य से मिश्रित अर्थात् जिसमें सत्यांश भी हो और आंशिक असत्य भी हो, इस प्रकार के विचार-चिन्तन को 'मिश्र मनोयोग' कहते हैं।
4. **व्यवहार मनोयोग**- जो न तो सत्य हो और न ही असत्य हो, ऐसा विचार चिन्तन करना 'व्यवहार मनोयोग' है अथवा आमन्त्रण, आदेश, याचना, पृच्छा, प्ररूपणा आदि से सम्बन्धित विचार करना 'व्यवहार मनोयोग' है।
5. **सत्य भाषा**- (6) असत्य भाषा, (7) मिश्र भाषा व (8) व्यवहार भाषा- इनको भी मनोयोग की भाँति समझ लेना चाहिए। अन्तर केवल इतना ही है कि मनोयोग में सच्चा, झूठा, मिश्र एवं व्यावहारिक चिन्तन है, जबकि वचन योग में सत्य-असत्य आदि बोलना है।
9. **औदारिक काययोग**- शरीर पर्याप्त पूर्ण होने के पश्चात् औदारिक शरीर से जो हलन-चलन आदि क्रिया होती हैं, उसे 'औदारिक काय योग' कहते हैं। यह शरीर पर्याप्त से युक्त अपर्याप्त तथा पर्याप्त मनुष्यों और तिर्यञ्चों में होता है।
10. **औदारिक मिश्र काययोग**- मनुष्य, तिर्यञ्च के अपर्याप्त अवस्था में उत्पत्ति समय से लेकर जब तक शरीर पर्याप्त पूर्ण न हो, तब तक के अन्तर्मुहूर्त्त काल की प्रवृत्ति (क्रिया) को 'औदारिक मिश्र काययोग' कहते हैं। पर्याप्त अवस्था में मनुष्य, वैक्रिय अथवा आहारक लब्धि का एवं तिर्यञ्च, वैक्रिय लब्धि का प्रयोग कर जब मूल औदारिक शरीर में आता है तब भी औदारिक मिश्र काययोग होता है। सयोगी केवली द्वारा केवली समुद्घात करते समय दूसरे, छठे व सातवें समय में औदारिक व कार्मण शरीर की जो संयुक्त प्रवृत्ति होती है, उसे भी 'औदारिक मिश्र काययोग' कहते हैं।

11. **वैक्रिय काययोग-** देवों एवं नारकों में शरीर पर्याप्ति की पूर्णता के बाद और वैक्रिय लब्धि वाले मनुष्यों-तिर्यञ्चों में लब्धि जन्य वैक्रिय शरीर बनने के बाद वैक्रिय शरीर की जो क्रिया होती है, वह 'वैक्रिय काययोग' है।
 12. **वैक्रिय मिश्र काययोग-** नारकी, देवता के अपर्याप्त अवस्था में उत्पत्ति समय से लेकर जब तक शरीर पर्याप्ति पूर्ण न हो तब तक के अन्तर्मुहूर्त काल की क्रिया को 'वैक्रिय मिश्र काययोग' कहते हैं। नारकी, देवता जब पर्याप्त अवस्था में उत्तर वैक्रिय करते हैं तब भी उनमें वैक्रिय मिश्र काययोग माना जाता है। मनुष्य, तिर्यञ्च में वैक्रिय लब्धि का प्रयोग करने पर वैक्रिय शरीर की शरीर पर्याप्ति जब तक पूर्ण न हो, तब तक के काल में होने वाली क्रिया को भी 'वैक्रिय मिश्र काययोग' कहते हैं।
 13. **आहारक काययोग-** लब्धि द्वारा बनाये हुए पूर्ण आहारक शरीर से तीर्थाकरों के पास शंका निवारण हेतु गमनागमन आदि की जो क्रिया होती है, उसे 'आहारक काययोग' कहते हैं।
 14. **आहारक मिश्र काययोग-** आहारक लब्धिवन्त अणगार प्रमत्त अवस्था में जब आहारक शरीर बनाते हैं, उस समय जब तक आहारक शरीर की शरीर पर्याप्ति पूर्ण न हो तब तक के अन्तर्मुहूर्त काल में होने वाली क्रिया को 'आहारक मिश्र काययोग' कहते हैं।
 15. **कार्मण काययोग-** कार्मण शरीर से जो क्रिया-व्यापार होता है, यह अनाहारक अवस्था में ही होता है। जीव जब एक भव से दूसरे भव में जाता है तब वक्र गति में एक-दो-तीन समय तक अनाहारक रह सकता है। उस वक्त होने वाली क्रिया 'कार्मण काय योग' कहलाती है। इसी प्रकार केवली समुद्घात में भी जीव तीसरे, चौथे एवं पाँचवें समय में अनाहारक रहता है, अतः वहाँ भी कार्मण काययोग होता है।
- 9) नौवें बोले उपयोग बारह - (पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन)। पाँच ज्ञान-1. मतिज्ञान, 2. श्रुतज्ञान, 3. अवधिज्ञान, 4. मनःपर्यव ज्ञान और 5. केवलज्ञान।

तीन अज्ञान- 1. मति-अज्ञान, 2. श्रुत-अज्ञान और 3. विभंगज्ञान या अवधि-अज्ञान।

चार दर्शन-1. चक्षुदर्शन, 2. अचक्षुदर्शन, 3. अवधि- दर्शन और 4. केवलदर्शन।

• आधार- पन्नवणा सूत्र, पद 28, सूत्र 312

उपयोग- जीव की ज्ञान एवं दर्शनात्मक चेतनाशक्ति की प्रवृत्ति को 'उपयोग' कहते हैं। अर्थात् जीव जिस चेतना शक्ति के द्वारा वस्तु के सामान्य एवं विशेष रूप का ज्ञान करता है, उस ज्ञान करने की क्रिया को 'उपयोग' कहते हैं।

ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं-

1. **मतिज्ञान-** इन्द्रिय और मन की सहायता से रूपी-अरूपी पदार्थों का सीमित मात्रा में जो विशेष बोध होता है, उसे मति ज्ञान कहते हैं। जाति स्मरण ज्ञान भी इसी में शामिल होता है। इसमें अपने पिछले संज्ञी के नौ सौ (900) जन्मों की बात जानी जा सकती है।
2. **श्रुतज्ञान-** शब्द सुनकर, पढ़कर, चिन्तन-मनन कर अथवा संकेत से रूपी-अरूपी पदार्थों का सीमित मात्रा में होने वाला शब्दाश्रित ज्ञान, श्रुतज्ञान कहलाता है।
मति व श्रुतज्ञान में अन्तर- मतिज्ञान में शब्दों का उल्लेख नहीं होता है अर्थात् यह स्वयं के लिए ही लाभदायक होता है। जबकि श्रुतज्ञान में शब्दों का उल्लेख किया जाता है। यह स्व और पर दोनों के लिए लाभकारी होता है। मतिज्ञान से मात्र वर्तमान की जानकारी होती है जबकि श्रुतज्ञान से तीनों काल का बोध होता है। मतिज्ञान में सामान्य रूप से पदार्थों को जाना जाता है जबकि श्रुतज्ञान में मतिज्ञान द्वारा जाने हुए विषयों को अधिक विशिष्टता से जाना जाता है अथवा निर्णायक रूप से जाना जाता है।
3. **अवधिज्ञान-** इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना साक्षात् आत्मा से होने वाले रूपी पदार्थों के मर्यादित ज्ञान को 'अवधिज्ञान' कहते हैं। यह ज्ञान देवों-नारकों में जन्म से ही तथा संज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय व गर्भज मनुष्य में क्षयोपशम विशेष से होता है। अवधिज्ञान से मन की बात भी जानी जा सकती है।
4. **मनःपर्यवज्ञान-** इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना सीधे आत्मा से संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानना 'मनःपर्यवज्ञान' है।

अवधि और मनःपर्यवज्ञान में अन्तर- यद्यपि अवधि और मनः पर्यवज्ञान ये दोनों सीमित ज्ञान तथा प्रत्यक्षरूप से होने वाले ज्ञान हैं फिर भी दोनों में निम्न अन्तर भी हैं। जैसे-

1. मनः पर्यवज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा अपने विषय को बहुत गहराई से जानता है, अतः वह अवधिज्ञान से विशुद्धतर है।
2. अवधिज्ञान का क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक प्रमाण है, जबकि मनःपर्यवज्ञान का क्षेत्र मानुषोत्तर पर्वत तक ही है।
3. अवधिज्ञान के स्वामी चारों गति के जीव हो सकते हैं, जबकि मनः पर्यवज्ञान के स्वामी केवल संयमी मनुष्य ही होते हैं।
4. अवधिज्ञान का विषय कतिपय पर्याय सहित रूपी द्रव्य है, जबकि मनः पर्यवज्ञान का विषय अवधिज्ञान का अनन्तवाँ भाग अर्थात् मनोद्रव्य मात्र है।
5. **केवलज्ञान-** सभी द्रव्यों की सभी पर्यायों को एक साथ सीधे आत्मा से परिपूर्णरूप से प्रत्यक्ष जानना 'केवलज्ञान' है। सभी द्रव्यों की त्रैकालिक (भूत, वर्तमान और भविष्यत्) अवस्थाओं को सीधे आत्मा से बिना किसी सहायता के हस्तामलकवत् अर्थात् हथैली में रहे आँवले के समान अथवा हथैली में रहे निर्मल जल के समान परिपूर्ण जानना 'केवलज्ञान' है।
6. **मति-अज्ञान-** सम्यक् दर्शन के अभाव में मन और इन्द्रियों की सहायता से रूपी और अरूपी पदार्थों की सीमितरूप में जो जानकारी होती है, उसे 'मति-अज्ञान' कहते हैं।
7. **श्रुत-अज्ञान-** सम्यक्त्व के अभाव में सुनने, पढ़ने और मनन करे से जीवों को जो अरूपी पदार्थों की सीमितरूप में जो जानकारी होती है, उसे 'श्रुत-अज्ञान' कहते हैं।
8. **विभंगज्ञान-** सम्यक्त्व के अभाव में आत्मा से होने वाली रूपी पदार्थों की मर्यादित जानकारी को 'विभंग ज्ञान' या 'अवधि-अज्ञान' कहते हैं।

दर्शनोपयोग के चार प्रकार-

9. **चक्षुः दर्शन-** चक्षुःइन्द्रिय की सहायता से जीवों को मति-श्रुतज्ञान के पूर्व जो सामान्य बोध होता है अथवा अनुभूति होती है, उसे 'चक्षुःदर्शन' कहते हैं।
10. **अचक्षुःदर्शन-** चक्षुःइन्द्रिय को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों और मन की सहायता से अर्थात् कानों से सुनकर, नाक से सूँघकर, जीभ से चखकर, शरीर से स्पर्श कर और मन से चिन्तन-मनन कर मति-श्रुतज्ञान से पूर्व जो पदार्थों का सामान्य बोध होता है। वह 'अचक्षुःदर्शन' कहलाता है।
11. **अवधिदर्शन -** इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना मात्र आत्मा की शक्ति से मर्यादापूर्वक रूपी पदार्थों का अवधिज्ञान या विभंगज्ञान से पूत्र सामान्यरूप से बोध होना 'अवधिदर्शन' कहलाता है।
12. **केवलदर्शन -** त्रिकालवर्ती सभी द्रव्यों एवं उनकी सभी पर्यायों को सामान्यरूप से जानना 'केवलदर्शन' कहलाता है।

मनःपर्यवज्ञान से मन की अवस्थायें (पर्यायें) जानी जाती हैं और वे अवस्थायें विशेष ही होती हैं अतः मनःपर्यवदर्शन नहीं होता।

- 10) *दसवें बोले कर्म आठ-1. ज्ञानावरणीय, 2. दर्शनावरणीय, 3. वेदनीय, 4. मोहनीय, 5. आयु, 6. नाम, 7. गोत्र और 8. अन्तराय।*

• **आधार-** पत्रवणा सूत्र पद 23, उत्तराध्ययन सूत्र अ. 33

कर्म- कषाय और योग के निमित्त से आत्मा के साथ लगे हुए कार्मण-पुद्गल-स्कन्ध को 'कर्म' कहते हैं।

जीव के द्वारा मिथ्यात्व आदि हेतुओं से जो क्रिया की जाती है, उसे 'कर्म' कहते हैं। कषाय और योग के निमित्त से आत्मा पर लगने वाले कार्मण-पुद्गलों को 'कर्म' कहते हैं। ये कर्म चतुःस्पर्शी होने से केवलज्ञानी या विशेष अवधिज्ञानी को ही दिखाई देते हैं। कर्म के मुख्यतः दो भेद हैं- घाती कर्म व अघाती कर्म।

घाती कर्म- जो आत्मा के मूल गुणों की घात करे, उसे 'घाती कर्म' कहते हैं। ये चार हैं- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म।

अघाती कर्म- जो आत्मा के सामान्य गुणों को प्रभावित करके आत्मा को विकृत बना देते हैं, उन्हें 'अघाती कर्म' कहते हैं। मूल गुणों का घात नहीं करने के कारण उन्हें अघाती कर्म कहते हैं। ये भी चार हैं- वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म।

दूसरी अपेक्षा से 2 भेद- 1. द्रव्य कर्म और 2. भाव कर्म।

द्रव्य कर्म- जो कार्मण पुद्गल आत्मा पर पूर्व में लगे हुए कर्मों पर चिपकते हैं, उन्हें 'द्रव्य कर्म' कहते हैं।

भाव कर्म- राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भावों के कारण द्रव्य कर्मों का बन्ध होता है, इन विकारी भावों को 'भाव कर्म' कहते हैं।

द्रव्य कर्म के आठ भेद इस प्रकार हैं-

1. **ज्ञानावरणीय कर्म**- यह आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित करता है। जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को आच्छादित करते हैं। ज्ञान का अर्थ है- नव तत्त्व और षट् द्रव्यों के सही स्वरूप की जानकारी होना। मति, श्रुत, अवधि, मनः-पर्यव और केवल-ज्ञानावरणीय-ये ज्ञानावरणीय कर्म के पाँच भेद होते हैं। आत्म-स्वरूप को जानने वाले की एवं निजज्ञान की आशातना करने पर 6 कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म बँधता है। इस कर्म के क्षय से अनन्त ज्ञान या केवलज्ञान प्रकट होता है।
2. **दर्शनावरणीय कर्म**- यह आत्मा के दर्शन गुण को ढँकता है। जिस प्रकार द्वारपाल राजा के दर्शनों में बाधक बनता है, उसी प्रकार यह वस्तु तत्त्व के सामान्य गुण को जानने में बाधक बनता है। दर्शनावरणीय का क्षय होने पर अनन्त दर्शन का गुण प्रकट होता है। दर्शन और दर्शनवतों की निन्दा आदि 6 कारणों से इस कर्म का बंध होता है। इस कर्म के क्षय से अनन्त दर्शन या केवल दर्शन प्रकट होता है।
3. **वेदनीय कर्म**- जिस कर्म के उदय से जीव साता-असातारूप वेदनाजन्य अनुभूति करे, उसे 'वेदनीय कर्म' कहते हैं। साता वेदनीय से सुखरूप तथा असाता वेदनीय से दुःखरूप वेदन होता है। शहद लिपटी तलवार को जीभ से चाटने के समान। जीवों को सुख उपजाने से साता वेदनीय तथा दुःख उपजाने से असाता वेदनीय कर्म का बंध होता है। इस कर्म के क्षय से निराबाध सुख प्रकट होता है।
4. **मोहनीय कर्म**- जिस कर्म के उदय से आत्मा मोहित बनकर स्व और पर का अथवा सत्-असत् का अथवा हेय, ज्ञेय, उपादेय का भान भूल जाता है, उसे 'मोहनीय कर्म' कहते हैं। जैसे-मदिरा पीया हुआ व्यक्ति बेभान हो जाता है। इसके मुख्य दो भेद हैं- 1. दर्शन मोहनीय और 2. चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के कारण क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हो पाती। चारित्र मोहनीय वीतरागता में बाधक बनता है। कषायों को पतला करके श्रेणि-आरोहण कर वीतरागता प्राप्त की जाती है। मिथ्यात्व मोहनीय के उदय में नौ पूर्व की तीसरी आचार वस्तु तक का ज्ञान एवं आचरण भी मोक्ष प्राप्ति रूप निर्जरा का हेतु नहीं बन पाता। अतः सभी कर्मों में मोहनीय कर्म को सेनापति अथवा राजा की उपमा दी जाती है। साथ ही इस कर्म की उत्कृष्ट स्थिति भी सबसे अधिक 70 कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। मिथ्यात्व एवं क्रोधादि कषायों के सेवन से मोहनीय कर्म बंधता है। दर्शन मोहनीय के क्षय से क्षायिक समकित और चारित्र मोहनीय के क्षय से अनन्त शक्ति या वीतरागता प्रकट होती है।
5. **आयुष्य कर्म**- जिस कर्म के उदय से जीव एक निश्चित भव में रुका रहता है एवं जिसके समाप्त होने पर मरणावस्था को प्राप्त हो दूसरे भव में जन्म लेता है, वह 'आयुष्य कर्म' कहलाता है। जिस प्रकार से कैदी कारागार में बन्द पड़ा रहता है, उसी प्रकार इस कर्म से जीव नहीं चाहते हुए भी निश्चित समय तक एक शरीर में बँधा रहता है। इस कर्म के उदय से जीव चारों गतियों में जन्म-मरण करता रहता है और इसके क्षय होने पर अमरत्व गुण प्रकट होता है। 'आयुष्य कर्म' के मुख्य चार भेद हैं-नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु और देवायु। नरकायु चार कारणों से बन्धती है- 1. महा आरंभ करने से, 2. महापरिग्रह करने से, 3. पंचेन्द्रिय जीव का वध करने से और 4. मद्य-मांस का सेवन करने से। तिर्यचायु चार कारणों से बन्धती है- 1. माया करने से, 2. गूढ माया करने से, 3. असत्य वचन बोलने से और 4. खोटा माप-तोल करने से। मनुष्यायु चार कारणों से बन्धती है- 1. प्रकृति (स्वभाव) से सरल, 2. प्रकृति से विनम्र, 3. दया-अनुकम्पा भाव और 4. मद-मत्सर (ईर्ष्या) रहित होने से। देवायु चार कारणों से बन्धती है- 1. सराग संयम पालन करने से, 2. संयमासंयम (श्रावक-व्रतों का पालन करने से), 3. अकाम निर्जरा से और 4. बाल (अज्ञान) तप करने से।
6. **नाम कर्म**- जिस कर्म के उदय से जीव अनेक प्रकार के शरीर, गति, जाति, इन्द्रिय आदि को प्राप्त करता है, उसे 'नाम कर्म' कहते हैं। जिस प्रकार चित्रकार अनेक प्रकार के, अनेक रंगों, डिजाइनों के चित्र बनाता है, ठीक उसी प्रकार नाम कर्म से भी जीव को अनेक प्रकार के शरीर, गति, जाति, इन्द्रियाँ आदि प्राप्त होते हैं। इस कर्म से जीव शुभ-अशुभ आदि अनेक रूपों में परिणत होता है। नामकर्म शुभ और अशुभ दो प्रकार का है। इसके प्रत्येक के बंध के चार-चार कारण हैं। मन, वचन व काय की सरलता व मद-मत्सर भाव से

रहितता शुभ नामकर्म के कारण हैं तो इसके विपरीत अशुभ नाम के कारण हैं। शुभ नामकर्म के उदय से जीव शरीर एवं वचन सम्बन्धी उत्कृष्टता और यश पाता है, जबकि अशुभ नाम कर्म के उदय से शरीर एवं वाणी सम्बन्धी निकृष्टता एवं अयश पाता है। इस कर्म के क्षय से (अमूर्त्त) अरूपीपन की प्राप्ति होती है।

7. **गोत्र कर्म**- जिस कर्म के उदय से जीव में उच्चता और नीचता के संस्कार हों अथवा ऊँच और नीच कुलों में जन्म लेना पड़े, उसे गोत्र कर्म कहते हैं। जिस प्रकार कुंभकार छोटे- बड़े आदि अनेक प्रकार के मिट्टी के बर्तन बनाता है, ठीक उसी प्रकार जीव गोत्र कर्म के उदय से विभिन्न ऊँच-नीच कुलों में जन्म लेता है। जाति, कुल आदि आठ प्रकार के मद करने से नीच गोत्र एवं मद नहीं करने से उच्च गोत्र का बन्ध होता है। गुणीजनों के प्रति विनय-आदर एवं बहुमान रखने से भी उच्च गोत्र का बन्ध होता है। इस कर्म के क्षय से जीव अगुरुलघु गुण को प्राप्त करता है। अगुरु-लघु से तात्पर्य-न हल्का न भारी, न ऊँचा न नीचा, सम अवस्था होना है।
8. **अन्तराय कर्म** - जिस कर्म के उदय से जीव की दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच शक्तियाँ प्रभावित हों अथवा इनमें बाधा उत्पन्न हो, उसे 'अन्तराय कर्म' कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं- 1. दानान्तराय, 2. लाभान्तराय, 3. भोगान्तराय, 4. उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। इनमें अन्तराय देने से जीव अन्तराय कर्म बाँधता है। इस कर्म के क्षय से उपर्युक्त पाँचों शक्तियाँ अनन्त रूप में प्रकट होती हैं। अर्थात् अनन्त आत्म-सामर्थ्य नामक गुण प्रकट होता है।

- 11) **ग्यारहवें बोले गुणस्थान चौदह** - 1. मिथ्यात्व गुणस्थान, 2. सास्वादन गुणस्थान, 3. मिश्र गुणस्थान, 4. अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान, 5. देशविरति श्रावक गुणस्थान, 6. प्रमादी साधु गुणस्थान, 7. अप्रमादी साधु गुणस्थान, 8. निवृत्ति-बादर गुणस्थान, 9. अनिवृत्ति-बादर गुणस्थान, 10. सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान, 11. उपशान्त मोहनीय गुणस्थान, 12. क्षीण मोहनीय गुणस्थान, 13. सयोगी केवली गुणस्थान और 14. अयोगी केवली गुणस्थान।

• आधार- समवायांग-14

गुणस्थान- मोह और योग के निमित्त से आत्म-विकास की बनने वाली तरतम (कम-ज्यादा) अवस्थाओं को 'गुणस्थान' कहते हैं।

मोह और योग के निमित्त से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप आत्मा के गुणों की तारतम्य (न्यूनाधिकता) रूप अवस्था विशेष को 'गुणस्थान' कहते हैं।

जीव के ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि आत्मिक गुणों की न्यूनाधिक अवस्था को 'गुणस्थान' कहते हैं।

जीव की अशुद्धतम दशा से लेकर शुद्धतम दशा तक, संसारी अवस्था से सिद्ध अवस्था तक की अवस्थाएँ इन चौदह गुणस्थानों में वर्णित हैं।

1. **मिथ्यात्व गुणस्थान**- देव, गुरु, धर्म और अपने आत्म-स्वरूप के बारे में यथार्थ श्रद्धान नहीं होना अर्थात् विपरीत श्रद्धान होना 'मिथ्यात्व गुणस्थान' है। जब तक जीव में मिथ्यात्व रहता है, तब तक जीव का अनन्त संसार का बंध चलता रहता है। इसके सद्भाव में की गयी धार्मिक क्रियाएँ कर्म-निर्जरा का हेतु नहीं बनकर केवल पुण्य-बंध का हेतु बनती है। धर्म की शुरुआत ही मिथ्यात्व के चले जाने पर सही रूप में होती है। इसलिए व्यक्ति को मिथ्यात्व रूपी महाभयंकर शत्रु से सदैव बचने का और दूर करने का प्रयास करना चाहिए। जब तक अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप का भान नहीं हो जाता, तब तक वह मिथ्यात्व गुणस्थान में ही रहता है। मिथ्यात्वी भी कई प्रकार के हो सकते हैं, जैसे-
 1. अभवी- जो अनादि काल से मिथ्यात्वी हैं और अनन्त काल तक मिथ्यात्वी ही रहकर इस चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण करते रहेंगे। इनमें मुक्ति पाने की योग्यता ही नहीं होती है।
 2. भवी- जो अनादिकाल से मिथ्यात्वी हैं, किन्तु सम्यक् पुरुषार्थ कर मिथ्यात्व का अन्त कर मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता रखते हैं।
 3. पडिवाई- जिन जीवों ने एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया है, किन्तु सम्यक्त्व का वमन कर देने से वर्तमान में मिथ्यात्व दशा में है।
2. **सास्वादन गुणस्थान**- उपशम सम्यक्त्वी के अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होने से व दर्शन मोहनीय का उपशम कायम रहने से सम्यक्त्व की आस्वाद मात्र जो अवस्था बनती है, उसे सास्वादन गुणस्थान कहते हैं। उपशम समकित के लाभ को जो बाधा पहुँचाए, विराधना करे, उसे भी सासादन गुणस्थान कहते हैं। इसी कारण से इस गुणस्थान को सासादन गुणस्थान के नाम से भी जाना जाता है। इस गुणस्थान की स्थिति

- जघन्य एक समय, उत्कृष्ट छह आवलिका की होती है। इसमें जीव वमन किये सम्यक्त्व का आस्वाद मात्र लेता रहता है। इसी मध्यवर्ती (सम्यक्त्व से मिथ्यात्व में आने के बीच की अवस्था) पतनोन्मुख दशा का नाम सास्वादन गुणस्थान है। जैसे खीर खाकर वमन करने पर खीर का हल्का सा स्वाद मुँह में बना रहता है।
3. **मिश्र गुणस्थान-** जब जीव देव, गुरु, धर्म तथा अपने स्वरूप के बारे में सही निर्णय (श्रद्धान) नहीं कर पाता है, कुदेव और सुदेव की मान्यता में अन्तर नहीं कर पाता है, तब सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व से मिश्रित इस अवस्था को 'मिश्र मोहनीय गुणस्थान' कहते हैं। इस गुणस्थान में मिश्र मोहनीय प्रकृति का उदय होता है, जिसके कारण जीव को जैन धर्म में न तो एकान्त प्रीति होती है और न एकान्त अप्रीति। इसमें न तो आगामी भव का आयुष्य बन्धता है, न ही जीव काल करता है, न ही किसी लब्धि का प्रयोग करता है। इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य, उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त्त होती है।
 4. **अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान-** दर्शन मोहनीय कर्म की तीन (मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय) तथा चारित्र मोहनीय की चार (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ) इन सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम करके जीव सम्यग्दृष्टि बनता है। उसे अपने यथार्थ स्वरूप का भान हो जाता है। जब जीव षट्द्रव्य और नवतत्त्वों का अथवा देव, गुरु, धर्म और अपने आत्म-स्वरूप का परिपूर्ण यथार्थ श्रद्धान कर लेता है, परन्तु अप्रत्याख्यानी कषाय का उदय होने के कारण किसी भी प्रकार का व्रत-नियम पालन नहीं कर पाता है। उस अवस्था को 'अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान' कहते हैं। यह गुणस्थान चारों गतियों के संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में पाया जाता है।
विरति या त्याग के अभाव से इसे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं, किन्तु जिसकी दृष्टि यथार्थ हो गयी, एक दिन वह चारित्र मोह का क्रमशः क्षय करके त्याग-प्रत्याख्यान भी कर सकता है। दृष्टि का यथार्थ होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। एक बार सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद यदि सम्यक्त्व चली भी जाये तो जीव देशोन (कुछ कम) अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल से अधिक संसार में परिभ्रमण नहीं करता है।
 5. **देशविरति श्रावक गुणस्थान-** जो सम्यग्दृष्टि जीव यथाशक्ति व्रत-नियम जैसे-अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि ग्रहण कर उनकी परिपालना करते हैं, उस अवस्था को 'देशविरति श्रावक गुणस्थान' कहते हैं। यह गुणस्थान जीव के दर्शन सप्तक के क्षय, उपशम, क्षयोपशम होने पर तथा अप्रत्याख्यानी कषाय चतुष्क के क्षयोपशम होने पर प्राप्त होता है। इसके अभाव में त्याग करने की प्रवृत्ति ही नहीं हो पाती। इस अवस्था में श्रावक बारह व्रत, चौदह नियम आदि ग्रहण कर अपने जीवन की वृत्ति एवं प्रवृत्तियों को मर्यादित करता है। इस गुणस्थान में आने पर जीव अल्पारम्भी-अल्पपरिग्रही बन जाता है। उसका लक्ष्य अनारम्भी बनना होता है। यह गुणस्थान विरति मार्ग की प्रथम सीढ़ी है।
इस गुणस्थान में आंशिकरूप से पापों का त्याग होने के कारण इसे देशविरति श्रावक गुणस्थान कहा है। इसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त, उत्कृष्ट देशोन (कुछ कम) करोड़ पूर्व है। इस गुणस्थान का आराधक जीव जघन्य तीसरे तथा उत्कृष्ट 15 भवों में मोक्ष जाता है।
 6. **प्रमादी साधु गुणस्थान-** जब साधक 18 पापों का अथवा आश्रवों का तीन करण, तीन योग से जीवन पर्यन्त के लिए त्याग करके संयमी बन जाता है। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति इन तेरह प्रकार के चारित्र का पालन करता है। पालन करते हुए भी संज्वलन कषाय की तीव्रता के कारण प्रमाद शेष रह जाता है। अतः 'प्रमादी साधु गुणस्थान' कहलाता है। अपने आत्मस्वरूप का लगातार स्मरण नहीं रहना, ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना में अपूर्व आत्मिक उत्साह नहीं होना 'प्रमाद' कहलाता है। प्रमाद पाँच प्रकार का है-मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा। इस गुणस्थान में अरिहंत भगवन्तों की आज्ञानुसार श्रद्धा-प्ररूपणा होने के साथ उनकी पालना भी की जाती है।
गृहस्थ समाज के लिए 'साधु' आदर्श होते हैं। उनके द्वारा की गयी श्रद्धा, प्ररूपणा एवं फरसना के अनुरूप ही गृहस्थों में संस्कार पड़ते हैं। साधु स्व-पर हितकारी होते हैं। अपनी आत्मा का कल्याण करते हुए उपदेश आदि से अन्य लोगों को भी सन्मार्गागामी बनाते हैं। इस गुणस्थान का आराधक जीव जघन्य उसी भव में, उत्कृष्ट 15 भवों में मोक्ष जाता है।
 7. **अप्रमादी साधु गुणस्थान-** जब साधु-साध्वी स्वाध्याय-ध्यान, चिन्तन-मनन आदि में विशेषरूप से लीन हो जाते हैं, पाँच प्रमाद से रहित होकर तेरह प्रकार के चारित्र का निरतिचार पालन करते हैं, अपने आत्म-स्वरूप में रमण करने लग जाते हैं, तब उस अवस्था को 'अप्रमादी साधु गुणस्थान' कहते हैं।
इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त होती है। इस गुणस्थान का आराधक जीव भी जघन्य उसी भव में, उत्कृष्ट 15 भवों में मोक्ष जाता है।

छठें व सातवें इन दोनों गुणस्थानों की मिलाकर स्थिति देशोन् क्रोड पूर्व की हो सकती है। अलग-अलग तो अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं होती।

8. **निवृत्ति बादर गुणस्थान-** निवृत्ति का अर्थ है-भिन्नता और बादर का अर्थ है-स्थूल कषाय। इस गुणस्थान में समान समय वाले जीवों के परिणामों में अन्तर होता है तथा स्थूल संज्वलन कषाय का उदय रहता है, इसलिए इसे 'निवृत्ति-बादर गुणस्थान' कहते हैं। इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त होती है। इस गुणस्थान में पाँच बातें अपूर्व होने के कारण इस गुणस्थान को अपूर्वकरण गुणस्थान भी कहते हैं। पाँच बातें- 1. स्थिति घात, 2. रस घात, 3. गुण श्रेणि, 4. गुण संक्रमण और 5. अपूर्व स्थिति बन्ध। इस गुणस्थान में जीव उपशम या क्षपक श्रेणि प्रारम्भ करता है।
 1. उपशम श्रेणि-दर्शन सप्तक के क्षय या उपशम करने के बाद मोहनीय कर्म की शेष 21 प्रकृतियों को दबाते हुए अर्थात् उपशमन करते हुए आगे के गुणस्थान में बढ़ना 'उपशम श्रेणि' है।
 2. क्षपक श्रेणि- दर्शन सप्तक के क्षय के बाद मोहकर्म की शेष 21 प्रकृतियों का क्षय करते हुए आगे के गुणस्थानों में बढ़ते हैं तो उसे 'क्षपक श्रेणि' कहते हैं। क्षपक श्रेणि वाले जीव दसवें गुणस्थान से सीधे बारहवें गुणस्थान में होते हुए तेरहवें गुणस्थान में जाकर केवली बन जाते हैं।

इस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि सीधा मोक्ष-मार्ग क्षपक श्रेणि है न कि उपशम श्रेणि। क्षपक श्रेणि वाला जीव चढ़ने के बाद गिरता ही नहीं है, इसलिए यह श्रेणि जीवन में एक बार ही होती है।
9. **अनिवृत्ति बादर गुणस्थान-** अनिवृत्ति का अर्थ है- अभिन्नता। इस गुणस्थान के सम-समयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता होती है तथा स्थूल संज्वलन कषाय का उदय रहता है, इसलिए इस गुणस्थान को 'अनिवृत्ति-बादर गुणस्थान' कहते हैं। इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त होती है।
10. **सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान-** सूक्ष्म संज्वलन लोभ का उदय शेष रह जाता है, बाकी प्रकृतियों का क्षय अथवा उपशम हो जाता है, उस अवस्था को 'सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान' कहते हैं। इस गुणस्थान में सूक्ष्म संपराय चारित्र होता है। इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। इस गुणस्थान में जीव की प्रवृत्ति चार ज्ञान में ही रहती है अर्थात् साकार उपयोग में ही प्रवृत्ति रहती है, अनाकार उपयोग में नहीं रहती।
11. **उपशान्त मोहनीय गुणस्थान-** जब आत्मा में मोहकर्म बिल्कुल शान्त हो जाता है, अर्थात् किसी भी प्रकार से मोहकर्म की किसी भी प्रकृति का उदय नहीं रहता, अन्तर्मुहूर्त के लिए दब जाता है, उस अवस्था को 'उपशान्त मोहनीय गुणस्थान' कहते हैं।

इस गुणस्थान में उपशम श्रेणि वाला जीव ही आता है, क्षपक श्रेणि वाला नहीं। क्षपक श्रेणि वाला जीव दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवें गुणस्थान में चला जाता है।

इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त होती है। इस गुणस्थान में काल करने वाला जीव अनुत्तर विमान में ही जाता है। यदि काल नहीं करता है तो स्थिति पूरी होने से नियमा नीचे गिरता है। लौटकर जीव दसवें गुणस्थान में, नौवें गुणस्थान में यावत् कोई पहले गुणस्थान में भी आ सकता है। कोई दूसरी बार भी उपशम श्रेणि कर सकता है, आगमानुसार उस भव में क्षपक श्रेणि नहीं कर सकता।
12. **क्षीण मोहनीय गुणस्थान-** जब मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है, उस अवस्था को 'क्षीण मोहनीय गुणस्थान' कहते हैं। इस अवस्था को पहुँचने पर जीव आगे जाकर निश्चित रूप से केवलज्ञान को प्राप्त करता है, गिरता नहीं है, क्योंकि नीचे के गुणस्थानों में गिरने का कारण मोहकर्म, सर्वथा नष्ट हो चुका होता है। इसकी स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की होती है। इस गुणस्थान के अन्तिम समय में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय, इन तीनों घाति कर्मों का एक साथ सम्पूर्ण क्षय हो जाता है।
13. **सयोगी केवली गुणस्थान-** घाति-कर्मों के क्षय से केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति के साथ यह गुणस्थान प्राप्त होता है। इसमें मन, वचन व काया की प्रवृत्ति चालू रहती है। भाव तीर्थंकर का पद भी इसी गुणस्थान में प्राप्त होता है। तीर्थंकर द्वारा प्ररूपित सत्य मार्ग संसारी छद्मस्थ जीवों के लिए कल्याणकारी होता है। उस मार्ग के अनुसार आचरण करने से आत्मा शाश्वत सुख एवं शान्ति को प्राप्त कर सकता है। इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन् (कुछ कम) क्रोड पूर्व की होती है।
14. **अयोगी केवली गुणस्थान-** तेरहवें गुणस्थान के अन्त में जब मन, वचन और काय योग का क्रमशः पूर्णतया निरोध हो जाता है, तब उस अवस्था को 'अयोगी केवली गुणस्थान' कहा जाता है। यहाँ से जीव सभी कर्मों से मुक्त होकर एक समय की अविग्रह-गति से मोक्ष चला जाता है। इस गुणस्थान की स्थिति पाँच लघु अक्षर- अ, इ, उ, ऋ, लृ का मध्यम रीति से उच्चारण करने में जितना समय लगे, उतनी होती है।

12) बारहवें बोले पाँच इन्द्रियों के तेईस विषय और 240 विकार ।

इस संसार में जितने भी जीव हैं उन सबको शरीर एवं इन्द्रियाँ मिली हुई हैं। इन्द्रियों की सहायता से वे अपनी दैनिक आवश्यकताओं को पूर्ण करते हुए जीवन-निर्वाह करते हैं। प्रत्येक इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न विषयों को ग्रहण करती हैं।

विषय- जो इन्द्रियाँ पुद्गल के जिन गुण-धर्म को ग्रहण करती हैं, वे उस इन्द्रिय के 'विषय' कहलाते हैं। अर्थात् इन्द्रियों के माध्यम से जीव जिन शब्द, रूप आदि को ग्रहण करता है उसे 'विषय' कहते हैं।

विकार- ग्रहण किये गये विषयों को अच्छा-बुरा मानकर उन पर राग-द्वेष करना 'विकार' कहलाता है।

पाँच इन्द्रियों के 23 विषय और 240 विकार इस प्रकार हैं-

1. **श्रोत्रेन्द्रिय के तीन विषय**- जीव शब्द, अजीव शब्द और मिश्र शब्द।
जीव शब्द- संसारी जीवों से निकलने वाली आवाज को जीव शब्द कहते हैं।
अजीव शब्द- अचेतन पदार्थों से उत्पन्न होने वाले शब्द अजीव शब्द हैं।
मिश्र शब्द- जीव और अजीव के संयोग से उत्पन्न होने वाले शब्द मिश्र शब्द हैं। जैसे-बाँसुरी या हारमोनियम की आवाज।
विकार- ये 3 शुभ, 3 अशुभ, इन 6 पर राग और 6 पर द्वेष, इस प्रकार 12 विकार।
इन विकारों में सचित्त, अचित्त और मिश्र का अलग से भेद इसलिए नहीं किया गया है कि सचित्त का समावेश जीव में, अचित्त का समावेश अजीव में और मिश्र का समावेश मिश्र में हो जाता है।
2. **चक्षुरिन्द्रिय के पाँच विषय**- 1. काला, 2. नीला, 3. लाल, 4. पीला और 5. सफेद।
विकार- ये 5 सचित्त, 5 अचित्त और 5 मिश्र। ये 15 शुभ और 15 अशुभ, इन 30 पर राग और 30 पर द्वेष। इस प्रकार 60 विकार।
3. **घ्राणेन्द्रिय के 2 विषय** - 1. सुरभिगंध, 2. दुरभिगंध।
विकार- ये 2 सचित्त, 2 अचित्त और 2 मिश्र। इन 6 पर राग और 6 पर द्वेष। इस प्रकार 12 विकार।
विकार के भेदों में शुभ और अशुभ का भेद अलग से नहीं लिया गया है क्योंकि सुगंध का तात्पर्य शुभ से और दुर्गन्ध का तात्पर्य अशुभ से है।
4. **रसनेन्द्रिय के पाँच विषय**- 1. तीखा, 2. कड़वा, 3. कषैला, 4. खट्टा और 5. मीठा।
विकार- ये 5 सचित्त, 5 अचित्त और 5 मिश्र। ये 15 शुभ और 15 अशुभ, इन 30 पर राग और 30 पर द्वेष। इस प्रकार 60 विकार।
5. **स्पर्शनेन्द्रिय के आठ विषय**- 1. कर्कश (खुरदरा), 2. मृदु (कोमल), 3. लघु (हल्का), 4. गुरु (भारी), 5. शीत (ठण्डा), 6. उष्ण (गर्म), 7. रुक्ष (लूखा) और 8. स्निग्ध (चिकना)।
विकार- ये 8 सचित्त, 8 अचित्त, 8 मिश्र, ये 24 शुभ और 24 अशुभ, इन 48 पर राग और 48 पर द्वेष। इस प्रकार 96 विकार।

- आधार- प्रज्ञापन सूत्र, पद-15

13) तेरहवें बोले मिथ्यात्व के दस भेद - 1. जीव को अजीव श्रद्धे तो मिथ्यात्व, 2. अजीव को जीव श्रद्धे तो मिथ्यात्व, 3. धर्म को अधर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्व, 4. अधर्म को धर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्व, 5. साधु को असाधु श्रद्धे तो मिथ्यात्व, 6. असाधु को साधु श्रद्धे तो मिथ्यात्व, 7. संसार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग श्रद्धे तो मिथ्यात्व, 8. मोक्ष के मार्ग को संसार का मार्ग श्रद्धे तो मिथ्यात्व, 9. आठ कर्मों से मुक्त को अमुक्त श्रद्धे तो मिथ्यात्व, 10. आठ कर्मों से अमुक्त को मुक्त श्रद्धे तो मिथ्यात्व।

- आधार- ठाणांग 10, सूत्र 734

मिथ्यात्व- वस्तु के अयथार्थ श्रद्धान (पदार्थ जिस रूप में है, उसे उस रूप में नहीं मान कर विपरीत रूप में मानना) 'मिथ्यात्व' है।

1. **जीव को अजीव श्रद्धे तो मिथ्यात्व**- जिसमें चेतना का गुण हो, उपयोग लक्षण वाला हो, जिसमें जानने, देखने और अनुभव करने की शक्ति हो, उनको जीव नहीं मानकर अजीव मान लेना, हमारी आत्मा को शरीर के समान नाशवान और क्षण-भंगुर समझ लेना, एकेन्द्रिय आदि सूक्ष्म जीवों को अजीव मान लेना, ज्ञान,

दर्शन, सुख और शक्ति को जीव के मूल गुण न मानकर पुद्गल के गुण मान लेना आदि 'जीव को अजीव श्रद्धने रूप मिथ्यात्व' है।

मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं। संयोग, वियोग, जन्म-मरण, सड़न-गलन आदि प्रक्रिया शरीर में होती है, आत्मा में नहीं। आत्मा, अजर-अमर-अविनाशी तत्त्व है। आत्मा और शरीर की भिन्नता का स्पष्ट एवं अनुभूति परक बोध होना भेद विज्ञान कहलाता है। जब तक आत्मा स्व-पर के भेद-विज्ञान का वस्तुतः अनुभव नहीं कर लेती तब तक मिथ्यात्व समाप्त नहीं होता है।

2. **अजीव को जीव श्रद्धे तो मिथ्यात्व-** जड़ पदार्थों को जिनमें चेतना, उपयोग आदि गुण नहीं हो, उन्हें जीव मानना 'अजीव को जीव श्रद्धने रूप मिथ्यात्व' है। जैसे शरीर, इन्द्रियाँ, मन एवं अष्टविध कर्म, ये सभी रूपी हैं, पुद्गल रूप हैं, सड़न, गलन, विध्वंसन स्वभाव वाले होने से जड़ हैं। संयोगी होने से इनका वियोग निश्चित है। किन्तु अनादिकाल से जीव के साथ शरीर, इन्द्रियाँ आदि संयोग होने के कारण अज्ञानी जीव इन शरीर आदि को जीवरूप ही मान लेता है। शरीर आदि के विकास एवं विनाश में ही आत्मा का, आत्म-स्वरूप का विकास एवं विनाश समझ लेना भी 'अजीव को जीव श्रद्धने रूप मिथ्यात्व' कहलाता है।
3. **धर्म को अधर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्व-** धर्म अहिंसा, संयम एवं तपस्वरूप होता है। वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप रत्नत्रय की आराधना करना धर्म है। क्षमा, नम्रता, सरलता, निर्लोभता आदि दस लक्षणों को धारण करना धर्म है। इन सभी को धर्म न मानकर अधर्म मानना मिथ्यात्व है। सद्गति में ले जाने वाले कारणों को दुर्गति के कारण मानना व मोक्ष प्राप्ति में हेतुभूत ज्ञान, दर्शन, चारित्र को संसार बढ़ाने के कारण मानना मिथ्यात्व है।
आत्मा के सहज स्वभाव में रमण करना आत्म-धर्म है। समभाव में धर्म न मानकर राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह के सेवन करने में धर्म मानना 'धर्म को अधर्म श्रद्धने रूप मिथ्यात्व' कहलाता है।
4. **अधर्म को धर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्व-** हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि अठारह पापों का सेवन करना अधर्म है, पाप है, इन्हें धर्मरूप मानकर श्रद्धान करना भी मिथ्यात्व है। रागी, द्वेषी, मानी, मायावी, लोभी एवं कामी पुरुषों द्वारा कहे गये वचनों को उपादेय मानना, धर्म मानना, धर्म के नाम पर यज्ञ, पूजा आदि में होने वाली जीवों की हिंसा को अधर्म न मानकर धर्म रूप मानना, धर्म के नाम पर आडम्बर, प्रदर्शन एवं बड़े-बड़े समारोहों में होने वाले आरम्भ-समारम्भ आदि पापकारी प्रवृत्तियों को भी धर्म मानना, 'अधर्म को धर्म श्रद्धने रूप मिथ्यात्व' कहलाता है।
5. **साधु को असाधु श्रद्धे तो मिथ्यात्व-** वीतराग धर्म की पूर्ण निर्मल साधना करने वाले साधक को साधु कहते हैं। जो साधुत्व के गुणों अर्थात्- पाँच महाव्रत, पाँच समिति-तीन गुप्ति, पाँच आचार, पाँच इन्द्रिय दमन, नववाड़ सहित ब्रह्मचर्य, बारह प्रकार का तप, सतरह प्रकार का संयम पालन करते हुए आत्मभाव में लीन रहते हैं, वे साधु कहलाते हैं। ऐसे वीतराग धर्म की साधना करने वाले स्व-पर हित साधने वाले साधुओं को असाधु मानना 'साधु को असाधु श्रद्धने रूप मिथ्यात्व' कहलाता है।
6. **असाधु को साधु श्रद्धे तो मिथ्यात्व-** जो वीतराग मार्ग की साधना नहीं करते, त्याग मार्ग की आराधना नहीं करके भोग मार्ग पर लगे हैं, शरीर, इन्द्रियों, मन एवं आत्मा पर जिनका विवेकपूर्ण संयम नहीं है, ऐसे भोगी, रागी, कपटी लोगों को उत्तम, मंगल एवं शरणरूप साधु मानना, 'असाधु को साधु श्रद्धने रूप मिथ्यात्व' है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों में, चारों कषायों में लिप्त रहने वाले, प्रमादी जीवन व्यतीत करने वाले असाधुओं को साधु मानना, 'असाधु को साधु श्रद्धने रूप मिथ्यात्व' कहलाता है।
7. **संसार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग श्रद्धे तो मिथ्यात्व-** मिथ्या या असम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना करना, आरम्भ-परिग्रह का सेवन करना, इन्द्रिय-विषयों में आसक्त रहना, क्रोधादि कषायों का सेवन करना संसार का मार्ग है। इन कार्यों को करने से संसार के जन्म-मरणरूप विष-वृक्ष का सिंचन होता है, जिसके परिणामस्वरूप संसार परिभ्रमण बढ़ता ही जाता है। किन्तु अज्ञानवश मूढ़ प्राणी इन कार्यों को सम्पूर्ण दुःखों से मुक्ति या मोक्ष प्राप्ति का मार्ग समझ लेता है, एवं इनका सेवन करने में व्यस्त रहता है। मूढ़प्राणी की यह मान्यता या दृष्टिकोण ही 'संसार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग श्रद्धने रूप मिथ्यात्व' कहलाता है।
8. **मोक्ष के मार्ग को संसार का मार्ग श्रद्धे तो मिथ्यात्व-** तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र में कहा है- 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' अर्थात्- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग कहलाता है। (यहाँ तप का समावेश चारित्र में कर लिया जाता है) सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र और सम्यक् तप ये चारों मिलकर भी मोक्ष का मार्ग कहा गया है। ज्ञान द्वारा आत्मा स्व व पर पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को पहचानती है, दर्शन द्वारा उन पर श्रद्धा करती है, चारित्र द्वारा आत्मा नवीन कर्मों के प्रवेश को रोककर स्व में स्थित होती है और तप द्वारा पुराने कर्मों का विनाश कर आत्मा शुद्ध होती

है, निर्मल होती है। यही मोक्ष का मार्ग है। इसी मार्ग पर चलकर जीव सभी दुःखों से, कर्मों से मुक्त हो सकता है। ऐसे सच्चे मार्ग को संसार बढ़ाने वाला, भव-भ्रमण करने वाला माने तो 'मोक्ष के मार्ग को संसार का मार्ग श्रद्धने रूप मिथ्यात्व' कहलाता है।

9. **आठ कर्मों से मुक्त को अमुक्त श्रद्धे तो मिथ्यात्व-** जिन महापुरुषों ने विशिष्ट संवर व निर्जरा द्वारा समस्त कर्मों का अन्त कर दिया है। ज्ञानावरणीय आदि द्रव्य कर्मों से, राग द्वेषादि भाव कर्मों से सदैव के लिए मुक्त होकर केवलज्ञान, केवलदर्शन को प्रकट किये हुए हैं। अपने अनन्त आत्म-स्वरूप में हमेशा स्थिर रहते हैं, जो पूर्णतया स्वाधीन हैं, पर का अवलम्बन लेशमात्र भी नहीं है, जिन्हें कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं है, जो कृत-कृत्य हो चुके हैं। ऐसे अनन्त सिद्ध भगवान को सरागी देवों के समान कर्म सहित समझ लेना, 'मुक्त को अमुक्त श्रद्धने रूप मिथ्यात्व' कहलाता है।
10. **अमुक्त को मुक्त श्रद्धे तो मिथ्यात्व-** जो आत्माएँ राग द्वेषादि भाव कर्मों से, ज्ञानावरणीय आदि द्रव्य कर्मों से मुक्त नहीं हैं। जो देवी-देवता, जन्म-मरण के चक्र में उलझे हुए हैं, ऊँच-नीच की, यश-अपयश की कामना जिनके अन्तर में विद्यमान है, जो शरीर, संसार और कर्म से मुक्त नहीं हैं, ऐसे सरागी देवों को सिद्धों के समान मुक्त समझ लेना, आराध्य समझ लेना, 'अमुक्त को मुक्त श्रद्धने रूप मिथ्यात्व' कहलाता है।

14) चौदहवें बोले छोटी नव तत्त्व के 115 भेद-

नवतत्त्वों के नाम-1. जीव तत्त्व, 2. अजीव तत्त्व, 3. पुण्य तत्त्व, 4. पाप तत्त्व, 5. आस्रव तत्त्व, 6. संवर तत्त्व, 7. निर्जरा तत्त्व, 8. बन्ध तत्त्व और 9. मोक्ष तत्त्व।

इनके भेद- जीव के 14, अजीव के 14, पुण्य के 9, पाप के 18, आस्रव के 20, संवर के 20, निर्जरा के 12, बन्ध के 4 और मोक्ष के 4 भेद, ये कुल 115 हुए।

• आधार- ठाणांग सूत्र 9 वाँ स्थान।

तत्त्व-

1. संसार में जितने भी पदार्थ हैं, उनके सारभूत, स्वरूप को अथवा पदार्थ के भाव को 'तत्त्व' कहते हैं।
2. जिसको जानने से मोक्षरूप महाप्रयोजन की सिद्धि होती हो, वह भी 'तत्त्व' है।
3. जिसके जानने से पदार्थों का यथार्थ निर्णय होकर विवेक दृष्टि उत्पन्न हो, वह 'तत्त्व' कहलाता है।
4. जो जीव को संसार से मुक्त कराने एवं निज स्वरूप में प्रतिष्ठित कराने में सहायक हो, वह भी 'तत्त्व' कहलाता है।

नव तत्त्वों के भेद-

1. **जीव तत्त्व-** जिसमें जानने, देखने और अनुभव करने की शक्ति हो, जिसमें चेतना गुण हो, उपयोग लक्षण हो, जो सुख-दुःख का, पाप-पुण्य का स्वयं कर्ता एवं भोक्ता हो, ऐसे असंख्यात प्रदेशी, अरूपी, शाश्वत अखण्ड तत्त्व को जीव तत्त्व कहते हैं। जीव के मुख्यतः दो भेद- सिद्ध एवं संसारी। संसारी जीवों के चौदह भेद इस प्रकार हैं-

- (1) सूक्ष्म एके. का अपर्याप्त। (2) सूक्ष्म एके. का पर्याप्त।
- (3) बादर एके. का अपर्याप्त। (4) बादर एके. का पर्याप्त।
- (5) बेइन्द्रिय का अपर्याप्त। (6) बेइन्द्रिय का पर्याप्त।
- (7) तेइन्द्रिय का अपर्याप्त। (8) तेइन्द्रिय का पर्याप्त।
- (9) चउरिन्द्रिय का अपर्याप्त। (10) चउरिन्द्रिय का पर्याप्त।
- (11) असंज्ञी पंचे. का अपर्याप्त। (12) असंज्ञी पंचे. का पर्याप्त।
- (13) संज्ञी पंचे. का अपर्याप्त। (14) संज्ञी पंचे. का पर्याप्त।

इन चौदह भेदों में चारों गति के जीव सम्मिलित हो जाते हैं। 'जीव' ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति इन चार भाव प्राणों से त्रिकाल जीवित रहता है।

• आधार- समवायांग-14, भगवती शतक 25 उद्दे.।

2. **अजीव तत्त्व: अचेतन तत्त्व-** जो चेतना गुण से रहित हो, सड़न, गलन, विध्वंसन स्वभाव वाला हो, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श से युक्त हो अथवा इन वर्णादि से रहित होकर भी उपयोग लक्षण से हीन हो, जिसमें जड़त्व भाव हो ऐसे पदार्थों को 'अजीव तत्त्व' कहते हैं। इनमें संवेदन, सहनशीलता और समता जैसे गुणों का अभाव होता है। ये ज्ञान, दर्शन और अनुभव शक्ति से रहित होते हैं। अजीव तत्त्व के मूलतः 2 भेद हैं-रूपी

अजीव और अरूपी अजीव। जिसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान पाये जाते हैं, उन्हें रूपी अजीव कहते हैं और जिनमें ये नहीं पाये जाते, उन अजीव पदार्थों को अरूपी अजीव कहते हैं।

अरूपी अजीव के 10 भेद होते हैं-

धर्मास्तिकाय के तीन भेद- स्कन्ध, देश, प्रदेश।

अधर्मास्तिकाय के तीन भेद- स्कन्ध, देश, प्रदेश।

आकाशास्तिकाय के तीन भेद- स्कन्ध, देश, प्रदेश और दसवाँ कालद्रव्य।

रूपी पुद्गल (अजीव) के चार भेद होते हैं- स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु। इस प्रकार अजीव तत्त्व के चौदह भेद होते हैं।

अरूपी अजीव के 10 भेद स्वभाव में ही परिणामन करते रहते हैं। इनका सीधा सम्बन्ध भी आत्मा से नहीं है। रूपी पुद्गल लोक में अनन्त हैं, वे स्वभाव व विभाव दोनों रूप में परिणामन करते रहते हैं।

संसारी जीव सशरीरी होने से इस अजीव तत्त्व में से इन्द्रियों के माध्यम से पुद्गल के भोग को अपना भोग मानता है और सुख की प्रतीति करता है, किन्तु इन पुद्गलों में सुख नाम का गुण ही नहीं है। सुख तो आत्मा का गुण है। अतः जीव और अजीव तत्त्व का वास्तविक स्वरूप समझकर ही श्रद्धान करना चाहिए। रागादि विकारी भावों का त्याग कर शुद्ध एवं शुभ भावों में रमण करना चाहिए।

3. **पुण्य तत्त्व-** जो आत्मा को पवित्र करे अर्थात् अशुभ से बचाये, शुभ में लगाये। जिसको बाँधना दुर्लभ किन्तु भोगना सुलभ हो, जिसका फल मीठा अर्थात् अनुकूल प्रतीत होता हो उसे 'पुण्य तत्त्व' कहते हैं। यह तत्त्व धर्म की साधना और आराधना में सहायक बनता है। पुण्य के प्रभाव से शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि विकास को प्राप्त होते हैं और यदि जीव चाहे तो इनका धर्म-कार्य में सदुपयोग करके अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। पुण्य तत्त्व साधना में कहीं भी बाधक नहीं है। पुण्य का भोग करना बाधक है क्योंकि उससे पाप का बंध होता है। ज्यों-ज्यों जीव गुणस्थानों में ऊपर चढ़ता है त्यों-त्यों पुण्य के अनुभाग में भी वृद्धि होती जाती है। केवलज्ञान प्राप्ति के समय पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग होता है इसीलिए यह कहा जा सकता है कि पुण्य तत्त्व हेय न होकर धर्म में सहायक होने से उपादेय है।

पुण्य का बंध 9 प्रकार से होता है-

1. अन्न पुण्य- अन्न देने से पुण्य होता है।
2. पान पुण्य- पानी पिलाने से पुण्य होता है।
3. लयन पुण्य- जगह, स्थान देने से पुण्य होता है।
4. शयन पुण्य- शय्या, पाट, पाटला, बाजोट आदि देने से पुण्य होता है।
5. वस्त्र पुण्य- वस्त्र देने से पुण्य होता है।
6. मन पुण्य- शुभ मन रखने से, दान-शील-तपरूप शुभ भावना रखने से पुण्य होता है।
7. वचन पुण्य- मुख से शुभ वचन बोलने से पुण्य होता है।
8. काय पुण्य- काय द्वारा दया, सेवा, विनय, वैयावृत्त्य करने से पुण्य होता है।
9. नमस्कार पुण्य- गुणवान् को नमस्कार करने से पुण्य होता है।

- आधार- ठाणांग 9 सूत्र 676

4. **पाप तत्त्व-** जो आत्मा को नीचे गिराये, नरक आदि दुर्गति में ले जाये, आत्मा को मलिन करे, कर्मों के बोझ से भारी बनाये उसे 'पाप तत्त्व' कहते हैं। इस तत्त्व को बाँधना सुखरूप तथा उपभोग या उदय दुःखरूप होता है। यह तत्त्व इस भव तथा परभव दोनों में दुःखद होने से जन्म-मरणरूपी विष-वृक्ष को निरन्तर बढ़ाते रहने से एकान्त हेय माना गया है।

पाप का बंध अठारह प्रकार से होता है-

1. प्राणातिपात- जीवों की हिंसा करने से।
2. मृषावाद- असत्य-झूठ बोलने से।
3. अदत्तादान- चोरी करने से।
4. मैथुन- कुशील सेवन करने से।
5. परिग्रह- धन, संग्रह की लालसा रखने से।
6. क्रोध- रोष, गुस्सा करने से।
7. मान- अहंकार करने से।
8. माया- छल-कपट करने से।
9. लोभ- लालच-तृष्णा बढ़ाने से।

10. राग- प्रिय (मनोज्ञ) वस्तु पर स्नेह रखने से।
 11. द्वेष- अमनोज्ञ वस्तु पर द्वेष करने से।
 12. कलह- क्लेश करने से।
 13. अभ्याख्यान- झूठा कलंक लगाने से।
 14. पैशुन्य- चुगली करने से।
 15. परपरिवाद- दूसरे की निन्दा करने से।
 16. रति-अरति- मनोज्ञ वस्तुओं पर प्रसन्न और अमनोज्ञ वस्तुओं पर नाराज होने से।
 17. माया-मृषावाद- छल-कपट के साथ झूठ बोलने से।
 18. मिथ्यादर्शन शल्य- कुदेव, कुगुरु और कुधर्म पर श्रद्धा रखने से।
- आधार- भगवती सूत्र शतक 1 उद्दे. 9
अठारह भेदों में मिथ्या-दर्शन शल्य नामक अन्तिम पाप मुख्य एवं सब पापों की जड़ है। प्रायः जीव हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों का त्याग तो कर देता है परन्तु अन्तर में रहे अपने स्वरूप के प्रति अज्ञान एवं अश्रद्धानरूप मिथ्यादर्शन शल्य को नहीं निकाल पाता। इस कारण भव-भ्रमण रूक नहीं पाता है। अतः पाप बन्धन के मूल कारण को सम्यक् रूप से समझकर उसका त्याग करना आवश्यक है।
5. **आस्रव तत्त्व**- जिन कारणों से आत्मा पर कर्म पुद्गलों का आगमन होता है, उन कारणों को आस्रव तत्त्व कहते हैं। जीवरूप तालाब में शुभ-अशुभरूप जल, राग-द्वेष आदि आस्रव द्वाररूप नाली से आता रहता है। आस्रव से आत्मा मलिन बनता है, क्योंकि आस्रव से कर्मों का निरन्तर आगमन होता रहता है। आस्रव के 20 भेद इस प्रकार हैं-
 1. मिथ्यात्व- मिथ्यात्व का सेवन करें तो आस्रव।
 2. अव्रत- व्रत पचचक्राण नहीं करे तो आस्रव।
 3. प्रमाद- पाँच प्रकार का प्रमाद सेवे तो आस्रव।
 4. कषाय- क्रोध, मान, माया और लोभ का सेवन करे तो आस्रव।
 5. अशुभ योग- मन, वचन और काय द्वारा अशुभ प्रवृत्तियाँ करे तो आस्रव।
 6. प्राणातिपात- जीव हिंसा करे तो आस्रव।
 7. मृषावाद- झूठ बोले तो आस्रव।
 8. अदत्तादान- चोरी करे तो आस्रव।
 9. मैथुन- कुशील सेवन करे तो आस्रव।
 10. परिग्रह- धन-संग्रह की लालसा रखे तो आस्रव।
 11. श्रोत्रेन्द्रिय को वश में नहीं रखे तो आस्रव।
 12. चक्षुरिन्द्रिय को वश में नहीं रखे तो आस्रव।
 13. घ्राणेन्द्रिय को वश में नहीं रखे तो आस्रव।
 14. रसनेन्द्रिय को वश में नहीं रखे तो आस्रव।
 15. स्पर्शनेन्द्रिय को वश में नहीं रखे तो आस्रव।
 16. मन को वश में नहीं रखे तो आस्रव।
 17. वचन को वश में नहीं रखे तो आस्रव।
 18. काया को वश में नहीं रखे तो आस्रव।
 19. भंड उपकरण अयतना से लेवे और अयतना से रखे तो आस्रव।
 20. सुई कुशाग्र मात्र कोई भी वस्तु अयतना से लेवे और अयतना से रखे तो आस्रव।
 - आधार- ठाणांग सूत्र 5वाँ एवं 10 वाँ स्थान।
पाँच इन्द्रियों के भोगविलास में लगे रहना, उन पर अंकुश नहीं रखना, हिंसा, असत्य आदि का आचरण करना, मन, वचन और काया को वश में नहीं रखना, ये सब आस्रव के कारण हैं।
6. **संवर तत्त्व**- जिन कारणों से आत्मा पर आने वाले कर्म-पुद्गलों को रोका जा सके, उन्हें 'संवर तत्त्व' कहते हैं। जीवरूपी तालाब में आस्रवरूपी नालों के द्वारा आता हुआ कर्मरूपी पानी संवररूपी पाटिया से रूकता है। अपने शरीर, इन्द्रियाँ, मन, वस्त्र, पात्र भण्डोपकरण आदि पर संयम रखना, समिति और गुप्ति में उपयोगवान् रहना 'संवर तत्त्व' कहलाता है। यह तत्त्व आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वाधिक उपयोगी है, क्योंकि जब तक कर्मों का संवर नहीं होगा तब तक जीव आगे के गुणस्थानों को प्राप्त नहीं कर सकेगा। यह तत्त्व सम्यक्त्वपूर्वक व्रत ग्रहण करने पर ही प्राप्त होता है। यदि जीवन में कर्मों का बंध होता जाये, बंधे कर्मों की निर्जरा होती जाये

और संवर नहीं हो तो जीव की तीन काल में मुक्ति नहीं हो सकती। इस अपेक्षा से संवर तत्त्व को सबसे प्रमुख माना जाता है। संवर से आत्मा शुद्ध एवं निर्मल बनती है। संवर की साधना में कर्ममल आत्मा में नहीं आ पाता। संवर मोक्ष का कारण है।

संवर के 20 भेद इस प्रकार से हैं-

1. सम्यक्त्व-मिथ्यात्व का त्याग करे तो संवर।
2. विरति-अविरति का त्याग करे तो संवर।
3. अप्रमाद- प्रमाद का त्याग करे तो संवर।
4. अकषाय- कषाय का त्याग करे तो संवर।
5. शुभयोग- अशुभयोगों का त्याग करे तो संवर।
6. अप्राणातिपात- जीव की हिंसा का त्याग करे तो संवर।
7. अमृषावाद- झूठ बोलने का त्याग करे तो संवर।
8. अदत्तादान- चोरी का त्याग करे तो संवर।
9. अमैथुन- कुशील का त्याग करे तो संवर।
10. अपरिग्रह- ममत्व (लालसा) का त्याग करे तो संवर।
11. श्रोत्रेन्द्रिय वश में करे तो संवर।
12. चक्षुरिन्द्रिय वश में करे तो संवर।
13. घ्राणेन्द्रिय वश में करे तो संवर।
14. रसनेन्द्रिय वश में करे तो संवर।
15. स्पर्शनेन्द्रिय वश में करे तो संवर।
16. मन वश में करे तो संवर।
17. वचन वश में करे तो संवर।
18. काया वश में करे तो संवर।
19. भंड उपकरण यतना से लेवे और यतना से रखे तो संवर।
20. सूई कुशाग्र मात्र यतना से लेवे और यतना से रखे तो संवर।

- आधार- ठाणांग सूत्र 5वाँ एवं 10वाँ स्थान, प्रश्न-व्याकरण, समवायांग 5

संवर तत्त्व की यह उपादेयता है कि इसके स्वरूप को भलीभाँति हृदयंगम कर आचरण में लिया जाय। पाँच समिति, तीन गुप्ति, दस उत्तम धर्म, बारह भावना, बाईस परीषह विजय आदि संवर की आराधना के प्रमुख साधन बतलाये गये हैं।

7. निर्जरा तत्त्व- जिन क्रियाओं से आत्मा के साथ बंधे हुए कर्म-पुद्गलों को अंशतः अलग या क्षीण किया जाता है, उन्हें 'निर्जरा तत्त्व' कहते हैं। निर्जरा आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप में लाने की आध्यात्मिक क्रिया है, जिससे आत्मा के चारों ओर विद्यमान कर्मों को तपादि द्वारा अलग कर दिया जाता है। कर्मों को अलग हटाने का प्रमुख उपाय तप है। तप से आत्मा निर्मल बनकर सिद्धि को प्राप्त कर लेती है। निर्जरा का प्रमुख कारण तप होने से तप के भेदों को ही निर्जरा के भेद कहे गये हैं। निर्जरा दो प्रकार की होती है-

1. सकाम निर्जरा- सम्यक्त्व के सद्भाव में जो व्रत-नियम, त्याग, तप आदि किया जाता है, उनसे होने वाली कर्मों की निर्जरा को 'सकाम निर्जरा' कहते हैं। यह निर्जरा ही मुक्ति को प्राप्त कराने में सहायक बनती है।
2. अकाम निर्जरा- मिथ्यात्व और अज्ञान के सद्भाव में होने वाली कर्मों की निर्जरा को 'अकाम निर्जरा' कहते हैं। यह निर्जरा पराधीनतापूर्वक या अज्ञानपूर्वक तप करने से होती है। दूसरी अपेक्षा से प्रत्येक जीव के बंधे हुए कर्म उदय में आकर आत्मा से अलग होते रहते हैं, उसे भी 'अकाम निर्जरा' कहते हैं।

तप के मूलतः दो भेद हैं-

1. बाह्य तप- शरीर तथा इन्द्रियों के निग्रह और नियन्त्रण के लिए की जाने वाली क्रियाएँ जिनका प्रभाव शरीरादि पर बाहर दिखाई दे तथा जो कर्मक्षय एवं आत्म विकास का कारण भी हो, उसे 'बाह्य तप' कहते हैं। इसके छः भेद निम्न हैं-

- (1) अनशन- चार प्रकार के या तीन प्रकार के आहार का त्याग करना।
- (2) ऊनोदरी- भोजन की अधिक रुचि होने पर भी कम भोजन करना।
- (3) भिक्षाचर्या- शुद्ध आहार आदि की गवेषणा करना।
- (4) रसपरित्याग- विगयादि का त्याग करना, स्वाद पर विजय करना।

- (5) कायक्लेश- वीरासन आदि कष्टप्रद क्रिया करना ।
 (6) प्रतिसंलीनता- इन्द्रियों को वश में करना तथा कषाय और योगों को रोकना ।
2. **आभ्यन्तर तप-** चित्त निरोध की प्रधानता द्वारा कर्मक्षय एवं आत्मगुणों का विकास करने वाली क्रियाएँ 'आभ्यन्तर तप' हैं। इसमें चित्त विशुद्धि प्रमुख है। इसके छः भेद निम्न हैं-
- (1) प्रायश्चित्त- लगे हुए दोषों की आलोचना करके आत्मा को शुद्ध करना । (7)
 (2) विनय- गुरु आदि की भक्तियुक्त अभ्युत्थानादि से आदर-सत्कार एवं विनय करना । (8)
 (3) वैयावृत्त्य- आचार्यादि की सेवा करना । (9)
 (4) स्वाध्याय- शास्त्र की वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा करना । (10)
 (5) ध्यान- मन को एकाग्र करके शुभ विचारों में लगाना । (11)
 (6) व्युत्सर्ग- काय की ममता एवं काय के व्यापार का त्याग करना । (12) शरीर के प्रति लेश मात्र भी आसक्ति न रहे, ऐसा तप करना । इस प्रकार तप के कुल बारह उत्तर भेद होते हैं।
- आधार- भगवती श. 25 उद्दे. 7, उत्तरा. अ. 30
8. **बन्ध तत्त्व-** कर्म-पुद्गलों का आत्मा के साथ दूध-पानी की तरह अथवा लोहपिण्ड-अग्नि की तरह सम्बद्ध होना, 'बंध तत्त्व' है।

कषाय और योग से आत्म-प्रदेशों में जब कंपन होता है, तब आत्मा के साथ कर्म का बंध होता है। जैसे कोई व्यक्ति शरीर पर तेल लगाकर धूल में लेटता है तो धूल उसके शरीर से चिपक जाती है। कर्म-बंध के मुख्य दो कारण राग व द्वेष हैं।

बंध तत्त्व के चार भेद इस प्रकार हैं-

1. प्रकृति बन्ध- आत्मा पर बंधने वाले कर्म-पुद्गल आत्मा के जिस गुण को प्रभावित करते हैं, ढँकते हैं, उसे उन कर्म-पुद्गलों का प्रकृति बंध कहते हैं। जैसे ज्ञान गुण को प्रभावित करने वाले कर्म-पुद्गलों का बन्ध होना उनका 'प्रकृति बन्ध' है।
 2. स्थिति बन्ध- बंधने वाले कर्म-पुद्गल जितने समय तक आत्मा के साथ सम्बद्ध रहते हैं, उस समयावधि को 'स्थिति बन्ध' कहते हैं।
 3. अनुभाग बन्ध- बंधे हुए कर्म-पुद्गलों के फल अथवा रस में कड़वे या मीठेपन की तीव्रता-मन्दता को 'अनुभाग बंध' कहते हैं।
 4. प्रदेश बन्ध- जितने कर्मण-पुद्गल आकर आत्मा पर चिपकते हैं, उनकी संख्या को 'प्रदेश बंध' कहते हैं। जब कभी कर्मों का बंध होता है तो अनन्तानन्त कर्म-पुद्गल आत्मा पर आकर चिपक जाते हैं।
- आधार- ठाणांग 4 सूत्र 296
इनमें प्रकृति और प्रदेश बन्ध का कारण योग तथा स्थिति और अनुभाग बन्ध का कारण कषाय है।
9. **मोक्ष तत्त्व-** सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष तत्त्व है। आस्रवों को संवर के द्वारा रोक देना और निर्जरा के द्वारा संचित कर्मों का जड़मूल से क्षय कर देना 'मोक्ष तत्त्व' कहलाता है। मोहनीय कर्म का सम्पूर्णतः क्षय हो जाने पर मोक्ष अवश्य प्राप्त होता है। शरीर, कषाय और कर्म इन तीनों से मुक्त होकर शाश्वत सिद्धि को प्राप्त करना 'मोक्ष' है।
- मोक्ष प्राप्ति के चार उपाय इस प्रकार हैं-
1. सम्यक् ज्ञान- जिन पदार्थों का जैसा स्वरूप है, वैसा ही जानना या मोक्ष व मोक्ष के उपायों को सम्यक् रूप से जानना 'सम्यग्ज्ञान' है।
 2. सम्यक् दर्शन- जिनेश्वर भगवान के वचनों पर शुद्ध श्रद्धा रखना 'सम्यग्दर्शन' है।
 3. सम्यक् चारित्र- दर्शन और ज्ञानपूर्वक महाव्रतादि का आचरण करने को 'सम्यक् चारित्र' कहते हैं।
 4. सम्यक् तप- पूर्वबद्ध कर्मों को सम्यक् प्रकार से क्षीण एवं आत्मा से अलग करना 'सम्यक् तप' है।
- आधार- उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 28
ये चारों मिलकर जब परिपूर्णरूप में आत्मा में प्रकट हो जाते हैं, उस समय जीव की प्राप्त होने वाली अवस्था को 'मोक्ष तत्त्व' कहते हैं।

- 15) **पन्द्रहवें बोले आत्मा आठ - 1. द्रव्य आत्मा, 2. कषाय आत्मा, 3. योग आत्मा, 4. उपयोग आत्मा, 5. ज्ञान आत्मा, 6. दर्शन आत्मा, 7. चारित्र आत्मा और 8. वीर्य आत्मा।**

● आधार- भगवती श.12 उद्देशक 10

आत्मा- जो ज्ञान, दर्शन आदि पर्यायों में निरन्तर रमण करे, गमन करे उसे 'आत्मा' कहते हैं। असंख्यात आत्म-प्रदेशों का ऐसा समूह जिसमें चेतना का गुण सदैव विद्यमान रहता है, उसे 'आत्मा' कहते हैं। आत्मा के आठ भेद इस प्रकार हैं-

1. **द्रव्य आत्मा-** असंख्यात प्रदेशों का ऐसा अखण्ड और अमूर्त स्वरूप जो ज्ञान-दर्शन के गुणों से युक्त है, शाश्वत है, उसे 'द्रव्य आत्मा' कहते हैं। संसारी एवं सिद्ध सभी में यह आत्मा पायी जाती है। आत्मा का एक भी प्रदेश आत्मा से कभी अलग नहीं होता है।
2. **कषाय आत्मा-** क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों की तीव्रता के आधार पर आत्मा को 'कषाय आत्मा' कहा जाता है। जब तक कषायों का उदय रहता है, तब तक यह आत्मा रहती है। यह आत्मा दसवें गुणस्थान तक के जीवों में पायी जाती है।
3. **योग आत्मा-** जब आत्मा के साथ मन, वचन और काय की प्रवृत्ति विद्यमान रहती है तब योगों की प्रमुखता के आधार पर उसे 'योग आत्मा' कहते हैं। यह आत्मा तेरहवें गुणस्थान तक के जीवों में पायी जाती है।
4. **उपयोग आत्मा-** जब आत्मा में जानने और देखने की प्रवृत्ति विशेषरूप से होती है, तब उस आत्मा को 'उपयोग आत्मा' कहा जाता है। यह आत्मा सिद्ध व संसारी सभी जीवों में पाई जाती है।
5. **ज्ञान आत्मा-** जब आत्मा में नवतत्त्व और षट्द्रव्य का, देव-गुरु-धर्म और आत्म-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तब उसे 'ज्ञान आत्मा' कहते हैं अर्थात् समकित के साथ होने वाले पदार्थों की जानकारी ज्ञान आत्मा का लक्षण है। यह आत्मा सम्यग् दृष्टि जीवों में ही पायी जाती है, मिथ्यात्वी में नहीं।
6. **दर्शन आत्मा-** जब आत्मा शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि अथवा अपनी आत्मा के द्वारा पदार्थों का सामान्य बोध प्राप्त करती है, तब उसे दर्शन आत्मा कहते हैं। यह आत्मा सिद्ध और संसारी जीवों में पायी जाती है। यहाँ दर्शन से तात्पर्य श्रद्धा गुण से न होकर दर्शनावरणीय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले सामान्य अनुभूतिरूप दर्शन से है।
7. **चारित्र आत्मा-** जब आत्मा में त्याग-प्रत्याख्यानरूप विरति भाव तीन-करण, तीन-योग से जीवन पर्यंत के लिए प्रकट हो जाते हैं, तब उसे 'चारित्र आत्मा' कहते हैं। यह आत्मा छठे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक पायी जाती है।
8. **वीर्य आत्मा-** जब आत्मा में दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य, इन पाँच शक्तियों को प्रकट करने में पुरुषार्थ होता है, तब उसे 'वीर्य आत्मा' कहते हैं। यह आत्मा सभी संसारी जीवों में पायी जाती है सिद्धों में नहीं।

16) सोलहवें बोले दण्डक चौबीस -

1. सात नारकी का एक दण्डक- सात नारकी के नाम- घम्मा, वंसा, सीला, अंजणा, रिट्टा, मघा और माघवई। इनके गोत्र- रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और तमतमा प्रभा।
2. 2-11. दस भवनपतियों के दस दण्डक। उनके नाम- 1. असुरकुमार, 2. नागकुमार, 3. सुपर्णकुमार, 4. विद्युत्कुमार, 5. अग्निकुमार, 6. द्वीपकुमार, 7. उदधिकुमार, 8. दिशाकुमार, 9. पवनकुमार, 10. स्तनितकुमार।
3. 12-16. पाँच स्थावरों (पृथ्वी, अप्, तेउ, वायु, वनस्पति काय) के पाँच दण्डक।
4. 17-19. तीन विकलेन्द्रियों (बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय) के तीन दण्डक।
5. 20. तिर्यच पंचेन्द्रिय का एक दण्डक।
6. 21. मनुष्य का एक दण्डक।
7. 22. वाणव्यन्तर देवों का एक दण्डक।
8. 23. ज्योतिषी देवों का एक दण्डक।
9. 24. वैमानिक देवों का एक दण्डक।

● आधार- भगवती सूत्र शतक 24

दण्डक- अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल भोगने के स्थान को 'दण्डक' कहते हैं। जहाँ पर जीवों को दण्डित किया जाता हो, उसे भी दण्डक कहते हैं।

दण्ड को भोगने के स्थानों की अपेक्षा से दण्डक चौबीस प्रकार के होते हैं। इन चौबीस दण्डकों में सभी संसारी जीवों का समावेश हो जाता है।

17) सतरहवें बोले लेश्या छः - 1. कृष्ण लेश्या, 2. नील लेश्या, 3. कापोत लेश्या, 4. तेजो लेश्या, 5. पद्म लेश्या और 6. शुक्ल लेश्या।

• आधार- प्रज्ञापना पद 17, उत्तराध्ययन सूत्र अ. 34

लेश्या- जो शक्ति आने वाले कर्मों को आत्मा के साथ चिपका देवे, उसको 'लेश्या' कहते हैं। वह शक्ति कषाय और योग से उत्पन्न होती है। जीव के शुभाशुभ परिणामों को भी 'लेश्या' कहते हैं।

कषाय अथवा योग के निमित्त से जीव के होने वाले शुभाशुभ परिणाम को 'लेश्या' कहते हैं।

लेश्या के दो भेद होते हैं-अप्रशस्त और प्रशस्त।

अप्रशस्त लेश्या के 3 भेद- कृष्ण, नील और कापोत लेश्या।

प्रशस्त लेश्या के 3 भेद- तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या।

दूसरी प्रकार से लेश्या के 2 भेद- द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या।

द्रव्य लेश्या- यह शरीर के वर्णादि के आधार पर होती है। नारकी, देवों में द्रव्य लेश्या जीवन पर्यन्त एक ही प्रकार की रहती है। मनुष्य, तिर्यचों में बदलती रहती है। द्रव्य लेश्या पुद्गलरूप होती है।

भाव लेश्या- यह लेश्या विचाररूप होती है। सभी जीवों में भाव लेश्या परिणामों के साथ बदलती रहती है।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से छह लेश्याओं का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

1. **कृष्ण लेश्या**- जिन जीवों के परिणाम अत्यन्त क्रूर एवं निर्दयी होते हैं, जो तीव्र हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप प्रवृत्तियों में दिन-रात लगे रहते हैं। दूसरे लोगों को दुःखी करने में ही अपना सुख समझते हैं। ऐसे जीवों के परिणाम 'कृष्ण लेश्या' वाले कहलाते हैं। इनका जीवन धर्म-शून्य होता है। इस लेश्या का वर्ण काजल एवं आँखों की कीकी से भी अधिक काला होता है। रस अत्यन्त कड़वा होता है। इसकी गन्ध अत्यधिक अशुभ होती है।
2. **नील लेश्या**- जो जीव हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप प्रवृत्तियों में रचे-पचे रहते हैं, बहुत समझाने पर उन प्रवृत्तियों में थोड़ी कमी ला पाते हैं। जो धार्मिक भावना से कोसों दूर रहते हैं, ऐसे जीवों के परिणाम 'नील लेश्या' वाले होते हैं। ऐसे व्यक्ति प्रायः ईर्ष्यालु, निर्लज्ज, मायावी, मूढ़, प्रमादी एवं रसलोलुपी होते हैं। इसका वर्ण नीले अशोक वृक्ष के समान अथवा नीलमणि के समान नीला होता है। रस अत्यधिक तीखा होता है। इसकी गन्ध भी अधिक अशुभ होती है।
3. **कापोत लेश्या**- इसका वर्ण अलसी के फूल के समान, कबूतर की गर्दन के समान कुछ लाल और कुछ काला होता है। रस कच्चे आम के रस से अधिक कषैला होता है। इसकी गन्ध अशुभ होती है। कापोत लेश्या वाला जीव आचरण में वक्र, कपटी, अपने दोषों को छिपाने वाला, दुर्वचन बोलने वाला, चोरी एवं द्वेष करने वाला होता है।
4. **तेजो लेश्या**- इसका वर्ण हींगलू तथा गेरू के समान, उदय हुए सूर्य के समान लाल होता है। इसका रस पके हुये आम के रस की तरह मधुर होता है। गन्ध भी शुभ होती है। तेजो लेश्या वाला जीव विनम्र, चपलता रहित, जितेन्द्रिय, अमायी, प्रियधर्मी, दृढधर्मी, पाप से डरने वाला एवं मोक्षपथगामी होता है।
5. **पद्म लेश्या**- इसका वर्ण हल्दी के टुकड़े तथा पटसन के फूल के समान पीला होता है। इसका रस अधिक मधुरता वाला होता है और गन्ध तेजोलेश्या से कई गुनी अच्छी होती है। पद्म लेश्या वाला अल्प क्रोधी, अल्पमानी, अल्पमायी, अल्पलोभी, प्रशान्तचित्त, आत्मदमनी, जितेन्द्रिय एवं उपशान्त होता है।
6. **शुक्ल लेश्या**- इसका वर्ण स्फटिक, शंख, दूध की धारा तथा चाँदी के समान सफेद होता है। रस शक्कर से भी अनन्त गुणा मधुर होता है। गन्ध शुभतम एवं स्पर्श अत्यन्त कोमल होता है। शुक्ल लेशी जीव आर्त एवं रौद्रध्यान को छोड़कर धर्म एवं शुक्ल ध्यान में एकाग्रचित्त होता है।

प्रथम तीन लेश्याएँ अप्रशस्त होने के कारण प्रायः अधिक पाप कर्म का बन्ध करवाती हैं। इसलिये इन्हें अधर्म लेश्या भी कहा है, अतः इन तीनों का परित्याग करना चाहिए।

शेष तीन लेश्याएँ मनुष्य, देवादि सुगति की दायक हैं। शुक्ल लेश्या में केवल ज्ञान भी प्रकट हो सकता है।

18) अठारहवें बोले दृष्टि तीन - 1. सम्यग्दृष्टि, 2. मिथ्यादृष्टि और 3. सम्यक्-मिथ्या दृष्टि (मिश्रदृष्टि)।

• आधार- ठाणांग 3 सूत्र 148 पणवणा, पद 19

दृष्टि- जीव की अन्तःकरण की प्रवृत्ति को 'दृष्टि' कहते हैं। देव, गुरु, धर्म एवं आत्म-स्वरूप सम्बन्धी जो यथार्थ, अयथार्थ अथवा मिश्रित श्रद्धान होता है, उसे भी दृष्टि कहते हैं। संसार में जितने भी जीव है, उनमें इनमें से एक न एक 'दृष्टि' अवश्य मिलती है।

1. **सम्यक् दृष्टि-** सम्यक् का तात्पर्य है सही, सच्ची अथवा यथार्थ। दृष्टि का तात्पर्य है देखना, अनुभूति करना, श्रद्धान करना। अर्थात् जीवादि नवतत्त्वों का एवं षट्द्रव्यों का जैसा स्वरूप वीतराग भगवन्तो ने आगमवाणी में कथन किया है, उसे उसी रूप में श्रद्धान करना, मानना 'सम्यक् दृष्टि' है। स्व और पर का भेद-विज्ञान होना अर्थात् आत्म-तत्त्व और जड़ तत्त्व दोनों भिन्न-भिन्न हैं, मेरी आत्मा अलग है, शरीर अलग है, ऐसी अनुभूति करते हुए आत्मपरक श्रद्धान होना 'सम्यक् दृष्टि' है।
2. **मिथ्या दृष्टि-** जीवादि नवतत्त्वों के स्वरूप के बारे में वास्तविक श्रद्धान न होना, विपरीत अथवा अयथार्थ श्रद्धान होना 'मिथ्या दृष्टि' है। देव, गुरु, धर्म और आत्म-स्वरूप के प्रति अयथार्थ श्रद्धान होना, आत्मा व शरीर को भिन्न नहीं समझकर एक ही रूप मान लेना और इन्द्रिय-विषयों के भोगों को ही जीवन का लक्ष्य बना लेना 'मिथ्या दृष्टि' है। जीव के संसार परिभ्रमण का मूल कारण मिथ्या दृष्टि होना है।
3. **मिश्र दृष्टि-** पदार्थ के यथार्थ व अयथार्थ दोनों स्वरूप में अनिर्णय की स्थिति वाले 'मिश्र दृष्टि' कहलाते हैं। वीतराग और रागी का भेद नहीं कर पाते, मोक्ष मार्ग और संसार मार्ग की भिन्नता का भेद नहीं कर पाते, उन जीवों के सम्यक्त्व और मिथ्यात्व से युक्त तटस्थ परिणामों को 'मिश्र दृष्टि' कहते हैं। इस अवस्था में परिणामों में मिश्रता एवं चंचलता होने से न तो अगले भव की आयुष्य का बंध होता है और न ही जीव मृत्यु को प्राप्त होता है।

इन तीनों दृष्टियों में सम्यक् दृष्टि ज्ञेय एवं उपादेय है, जबकि मिथ्या एवं मिश्र दृष्टि ज्ञेय एवं हेय है।

19) उन्नीसवें बोले ध्यान चार- 1. आर्त्तध्यान, 2. रौद्रध्यान, 3. धर्म ध्यान और 4. शुक्ल ध्यान।

• आधार- भगवती शतक 25 उद्देशक 7, ठाणांग 4 सूत्र 247, समवायांग 4, ठा. 5 सूत्र, 441

ध्यान- मन, वचन और काय को किसी एक विषय पर एकाग्र करना अथवा केन्द्रित करना 'ध्यान' कहलाता है।

किसी भी कार्य में जब स्थिर अध्यवसाय हो जाते हैं तो उसे भी 'ध्यान' कहते हैं।

अन्तर्मुहूर्त्त के लिए एक विषय के बारे में एकाग्र होकर चिन्ता निरोध करना 'ध्यान' कहलाता है।

'ध्यान' के चार भेद-

1. **आर्त्तध्यान-** आर्त्त का अर्थ है- पीड़ा अथवा वेदना। अनुकूलता में कमी होने पर तथा प्रतिकूलता आने पर संसारी जीवों को प्रायः पीड़ा अनुभव होती है। उस समय अपने मन, वचन व शरीर को एकाग्र करके पीड़ा के कारणों पर विचार करते रहना 'आर्त्तध्यान' है। जो वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, व्यक्ति के अनुकूल लगती है, उसे इष्ट कहा गया है। इष्ट हमेशा हमारे पास सुरक्षित रहे, अनिष्ट सदा हमसे दूर रहे, इसके लिए योजनाएँ और कार्यक्रम बनाने में तल्लीन रहना 'आर्त्तध्यान' है।
2. **रौद्रध्यान-** रौद्र का अर्थ है- क्रूरभाव, क्रूरता के भाव, हिंसा के भाव। हिंसादि, दुष्ट आचरण का चिन्तन करना, 'रौद्रध्यान' कहलाता है। हिंसादि विषयों का क्रूर परिणाम 'रौद्रध्यान' कहलाता है अर्थात् प्राणियों को मारने-पीटने एवं दुःखी करने का चिन्तन करना, असत्य वचन बोलकर दूसरों को दुःखी करने का चिन्तन करना। तीव्र, क्रोध और लोभ के वशीभूत होकर चोरी करने का चिन्तन करना। शब्दादि पाँच विषयों के साधनभूत धन, स्त्री आदि के रक्षण का चिन्तन करना 'रौद्रध्यान' है। इस ध्यान में क्रूरता के कारण द्वेष के परिणाम अधिक मात्रा में होते हैं तथा अपने लोगों के साथ तीव्र आसक्ति होने से परिणाम रागात्मक भी हो जाते हैं।
3. **धर्मध्यान-** आत्मा को शुद्ध बनाने वाले ध्यान को 'धर्मध्यान' कहते हैं। वीतराग देव की आज्ञा को सत्य मानकर तत्त्वों का चिन्तन करना, राग-द्वेष आदि पापों एवं उनके विपाक (फल) का चिन्तन करना, कर्म के कटु फल का चिन्तन करना, लोक के आकार का चिन्तन करना, आत्म स्वरूप का चिन्तन करना आदि 'धर्मध्यान' कहलाता है।

षट्द्रव्यों के उत्पाद, व्यय व ध्रौव्यरूप त्रिपदी का चिन्तन करना 'धर्मध्यान' है। इसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूप मोक्ष-मार्ग का स्वरूप समझकर अपने मन, वचन, काया को एकाग्र करके निरीक्षण, परीक्षण करते हैं। कर्म के फल, भावनाओं का स्वरूप और स्वाध्याय के भेदों के आधार पर विचार करते हैं। संसार की असारता का एकाग्र चिन्तन करना भी धर्मध्यान में समाहित है।

4. **शुक्लध्यान**- मन के परिणामों की स्थिरता एवं योगों का निरोध करना 'शुक्ल ध्यान' कहलाता है। शुक्ल अर्थात् निर्मल आत्म-स्वरूप का, आत्मा की विविध पर्यायों का, पर्याय बनने के अन्तरंग व बाह्य निमित्तों का एकाग्रचित होकर विचार करना तथा अपने आत्म-स्वरूप में लीन होना 'शुक्ल ध्यान' है।

दूसरे शब्दों में शरीर का छेदन-भेदन होने पर भी आत्म-स्वरूप में स्थिर हुआ चित्त लेशमात्र भी चलित नहीं होता हो, उसे 'शुक्लध्यान' कहते हैं। जो ध्यान कर्म-मल को तीव्र गति से दूर करता है वह भी 'शुक्ल ध्यान' है। पर आलम्बन के बिना निर्मल आत्मस्वरूप का अखण्ड अनुभव 'शुक्ल ध्यान' है।

आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान दोनों कर्म-बंधन के हेतु और आत्मा को विषम भावरूपी विभावों में भटकाने वाले होने से 'अप्रशस्त ध्यान' कहलाते हैं। धर्म व शुक्ल ध्यान स्वभाव दशा की ओर ले जाने में सहायक बनने के कारण 'प्रशस्त ध्यान' कहलाते हैं। ध्यान सत्री जीवों में पर्याप्त अवस्था में ही होता है। छद्मस्थों में मन की एकाग्रता को तथा केवलियों में योग निरोध को ध्यान कहा है।

- 20) **बीसवें बोले षट्द्रव्यों के तीस भेद-छः द्रव्यों के नाम-1. धर्मास्तिकाय, 2. अधर्मास्तिकाय, 3. आकाशास्तिकाय, 4. कालद्रव्य, 5. जीवास्तिकाय और 6. पुद्गलास्तिकाय ।**

• आधार- भगवती शतक 2 उद्देशक 10, उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 28 गाथा 7-8

द्रव्य- 'गुणः पर्यायवद् द्रव्यम्' अर्थात् गुण और पर्यायों के समूह को 'द्रव्य' कहते हैं। इस संसार में कुल छः द्रव्य होते हैं। प्रत्येक द्रव्य की अपनी-अपनी मौलिक विशेषताएँ होती हैं। इन विशेषताओं के आधार पर ही द्रव्यों की पहचान होती है, जिन्हें विशेष गुण के नाम से भी कहा जाता है।

गुण को ध्रुव (शाश्वत) तथा पर्याय को उत्पाद-व्यय युक्त कहा जा सकता है। ये तीनों द्रव्य के लक्षण कहलाते हैं।

- धर्मास्तिकाय के 5 भेद**- 1. द्रव्य से- एक द्रव्य। 2. क्षेत्र से- सम्पूर्ण लोक प्रमाण। 3. काल से- आदि अन्त रहित। 4. भाव से- वर्ण नहीं, गन्ध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं, अरूपी, अजीव, शाश्वत्, लोकव्यापी और असंख्यात प्रदेशी है। 5. गुण से- चलन गुण। पानी में मछली का दृष्टान्त। जैसे- पानी के आधार से मछली चलती है, वैसे ही जीव और पुद्गल धर्मास्तिकाय के आधार से चलते हैं। जीवों के आगमन-गमन, बोलना-चलना, पलकों का झपकना या ऐसे ही मन, वाणी एवं शरीर की सभी प्रवृत्तियाँ धर्मास्तिकाय के निमित्त से सम्पन्न होती हैं।
जिस प्रकार मछली पानी के बिना चल नहीं सकती, परन्तु पानी मछली को जबरदस्ती चला नहीं सकता। मछली अपनी शक्ति से ही चलेगी, परन्तु चलने में पानी सहायक अवश्य होगा, ठीक इसी प्रकार धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गल को जबरन नहीं चलाती, गति नहीं कराती, परन्तु गति करने में उदासीन निमित्त अवश्य बनाती है।
- अधर्मास्तिकाय के 5 भेद**- 1. द्रव्य से- एक द्रव्य, 2. क्षेत्र से- सम्पूर्ण लोक प्रमाण, 3. काल से- आदि अन्त रहित, 4. भाव से- वर्ण नहीं, गंध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं, अरूपी, अजीव, शाश्वत्, लोकव्यापी और असंख्यात प्रदेशी है। 5. गुण से- स्थिर गुण। थके हुए पथिक को छाया का दृष्टान्त। जिस प्रकार से थके हुए पथिक के रुकने-ठहरने में छाया निमित्त-सहायक बनती है, उसी प्रकार ठहरे हुए जीव और पुद्गल में अधर्मास्तिकाय सहायक बनती है। वृक्ष आदि की छाया पथिक को जबरन नहीं रोक सकती, परन्तु थके हुए पथिक के रुकने में निमित्त अवश्य बनती है। ठीक इसी प्रकार जीव और पुद्गल की स्थिति में, ठहरने में अधर्मास्तिकाय निमित्त अवश्य बनती है, परन्तु जबरन जीव और पुद्गल की गति को रोक नहीं सकती, स्थिर नहीं कर सकती।
- आकाशास्तिकाय के 5 भेद**- 1. द्रव्य से- एक द्रव्य, 2. क्षेत्र से- लोकालोक प्रमाण, 3. काल से- आदि अन्त रहित, 4. भाव से- वर्ण नहीं, गन्ध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं, अरूपी, अजीव, शाश्वत्, लोकालोकव्यापी, लोक की अपेक्षा असंख्यात प्रदेशी व अलोक की अपेक्षा अनन्त प्रदेशी, 5. गुण से- अवगाहन गुण। स्थान (पोलार) देने का गुण। भीत में खूँटी का दृष्टान्त।

यह द्रव्य धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल इन सभी को अवकाश (स्थान) देता है। ये सभी आकाश द्रव्य पर स्थिर रहते हैं जबकि आकाश द्रव्य स्वयं अपने आप पर (स्वप्रतिष्ठ) रहा हुआ है।

4. **काल द्रव्य के 5 भेद-** 1. द्रव्य से- अनन्त द्रव्य (एक काल अनन्त द्रव्यों पर प्रवर्ते), 2. क्षेत्र से- अढ़ाई द्वीप प्रमाण, 3. काल से- आदि अन्त रहित, 4. भाव से- वर्ण नहीं, गन्ध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं, अरूपी, अजीव, शाश्वत्, अढ़ाई द्वीप प्रमाण, अप्रदेशी। 5. गुण से- वर्तन गुण, कपड़े और केंची का दृष्टान्त। वर्तन-परिवर्तन काल का लक्षण है। नये को पुराना करे, पुराने को नष्ट करे। प्रदेश रहित होने से काल अस्तिकाय नहीं है।
5. **जीवास्तिकाय के 5 भेद-** 1. द्रव्य से- अनन्त द्रव्य, 2. क्षेत्र से- सम्पूर्ण लोक प्रमाण, 3. काल से- आदि अन्त रहित, 4. भाव से- वर्ण नहीं, गन्ध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं, अरूपी, जीव, शाश्वत्, लोकव्यापी, एक जीव की अपेक्षा असंख्यात प्रदेशी तथा अनन्त जीवों की अपेक्षा अनन्त प्रदेशी है। 5. गुण से- उपयोग गुण। चन्द्रमा की कला का दृष्टान्त। जैसे आवरण के कारण चन्द्रमा न्यूनाधिक प्रकाशित होता है। वैसे ही ज्ञानावरणादि के कारण आत्मा का उपयोग गुण न्यूनाधिक प्रकट होता है।
6. **पुद्गलास्तिकाय के 5 भेद-** 1. द्रव्य से- अनन्त द्रव्य, 2. क्षेत्र से- सम्पूर्ण लोक प्रमाण, 3. काल से- आदि अन्त रहित, 4. भाव से- वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श युक्त, रूपी, अजीव, शाश्वत्, लोकव्यापी, संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी तथा 5. गुण से- पूरण, गलन, विध्वंसन गुण। दृष्टान्त- आकाश में बादलों का मिलना व बिखरना।

बादल की तरह पुद्गल भी मिलते और बिखरते रहते हैं, क्योंकि जो वस्तु पूरण होती रहे और गलती रहे, कम होती रहे, उसे 'पुद्गल' कहते हैं। संसार में जो भी वस्तुएँ हमें दिखाई देती हैं, वे सभी पुद्गल का एक अंश हैं।

21) इक्कीसवें बोले राशि दो- 1. जीव राशि 2. अजीव राशि।

- आधार- ठाणांग 2, समवा. 2, उत्तरा. अ. 36

जीव राशि- जीवों के समूह को 'जीव राशि' कहते हैं। जीव से तात्पर्य ऐसे पदार्थ से है, जिसमें उपयोग का गुण विद्यमान हो अर्थात् जानने, देखने एवं अनुभव करने का गुण सदैव पाया जाता हो, जो सचेतन हो।

अजीव राशि- अजीवों के समूह को 'अजीव राशि' कहते हैं।

जीव राशि के 563 भेद तथा अजीव राशि के 560 भेद बतलाये गये हैं।

1. जीव राशि के 563 भेद-

नारकी के 14 भेद- सात नारकी के अपर्याप्त और पर्याप्त।

तिर्यच के 48 भेद- पृथ्वी, अप्, तैजस और वायु इन चार प्रकार के स्थावर जीवों के प्रत्येक के सूक्ष्म और बादर तथा अपर्याप्त और पर्याप्त ऐसे चार भेदों से कुल 16 भेद हुए। वनस्पतिकाय के सूक्ष्म, साधारण और प्रत्येक, इन तीन के अपर्याप्त और पर्याप्त, ये 6 भेद हुए। इस प्रकार एकेन्द्रिय के कुल 22 भेद हुए।

बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चउरिन्द्रिय, इन तीन विकलेन्द्रिय के अपर्याप्त और पर्याप्त, ऐसे 6 भेद हुए।

तिर्यच पंचेन्द्रिय पाँच प्रकार के हैं- 1. जलचर, 2. स्थलचर, 3. खेचर, 4. उरपरिसर्प और 5. भुजपरिसर्प। ये पाँच ही असंज्ञी और पाँच संज्ञी। ये 10 भेद हुए और इनके अपर्याप्त और पर्याप्त ऐसे 20 भेद हुए।

मनुष्य के 303 भेद- कर्मभूमिज मनुष्य के 15 भेद हैं। यथा- 5 भरत, 5 ऐरवत और 5 महाविदेह में उत्पन्न मनुष्यों के 15 भेद। अकर्मभूमिज (भोग-भूमिज) मनुष्य के 30 भेद हैं। यथा- 5 देवकुरु, 5 उत्तरकुरु, 5 हरिवास, 5 रम्यक्वास, 5 हैमवत और 5 ऐरण्यवत, इन क्षेत्रों में उत्पन्न मनुष्यों के 30 भेद।

56 अन्तरद्वीपों में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के 56 भेद।

ये सभी मिलाकर गर्भज-मनुष्य के 101 (15+30+56) भेद होते हैं। अपर्याप्त और पर्याप्त के भेद से 202 भेद होते हैं और इन 101 गर्भज मनुष्यों की अणुचि में उत्पन्न सम्पूर्च्छिम मनुष्य (अपर्याप्त) के 101 भेद, इस प्रकार कुल मिलाकर मनुष्य के 303 भेद होते हैं।

देव के 198 भेद- 10 भवनपति- असुरकुमारादि।

15 परमाधार्मिक 1. अम्ब, 2. अम्बरीष, 3. श्याम, 4. सबल, 5. रौद्र, 5. महारौद्र, 6. काल, 7. महाकाल, 9. असिपत्र, 10. धनुष, 11. कुंभ, 12. वालुका, 13. वैतरणी, 14. खरस्वर और 15. महाघोष। इनकी स्थिति भवनपति देवों के साथ होने से इन्हें भी भवनपति कहते हैं।

16 वाणव्यन्तर- पिशाचादि (पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व) आणपन्ने आदि आठ (आणपन्ने, पाणपन्ने, इसिवाई, भूयवाई, कंदे, महाकंदे, कुह्यण्डे, पयंगदेव) 10 जृम्भक- 1.

अन्न जृम्भक, 2. पान जृम्भक, 3. वस्त्र जृम्भक, 4. लयण जृम्भक, 5. शयन जृम्भक, 6. पुष्प जृम्भक, 7. फल जृम्भक, 8. पुष्पफल जृम्भक, 9. विद्या जृम्भक, 10. अव्यक्त जृम्भक। इनकी स्थिति वाणव्यन्तर के साथ होने से इन्हें वाणव्यन्तर भी कहते हैं।

10 ज्योतिषी- 1. चन्द्र, 2. सूर्य, 3. ग्रह, 4. नक्षत्र और 5. तारा। ये 5 चर और 5 अचर। कुल 10 भेद।

38 वैमानिक- 12 देवलोक- 1. सौधर्म, 2. ईशान, 3. सनत्कुमार, 4. माहेन्द्र, 5. ब्रह्मलोक, 6. लान्तक, 7. महाशुक्र, 8. सहस्त्रार, 9. आणत, 10. प्राणत, 11. आरण और 12. अच्युत।

3 किल्बिषिक- 1. त्रिपत्योपमिक, 2. त्रिसागरिक और 3. त्रयोदशसागरिक।

9 लोकान्तिक- 1. सारस्वत, 2. आदित्य, 3. वह्नि, 4. वरुण, 5. गर्दतोय, 6. तुषित, 7. अव्याबाध, 8. आग्नेय और 9. अरिष्ट।

9 ग्रैवेयक- 1. भद्र, 2. सुभद्र, 3. सुजात, 4. सुमनस, 5. सुदर्शन, 6. प्रियदर्शन, 7. आमोह, 8. सुप्रतिबद्ध और 9. यशोधर।

5 अनुत्तरवैमानिक- 1. विजय, 2. वैजयन्त, 3. जयन्त, 4. अपराजित और 5. सर्वार्थसिद्ध।

ये कुल मिलाकर 99 (10+15+16+10+10+38) भेद हुए। इनके अपर्याप्त और पर्याप्त के भेद से देवों के 198 भेद होते हैं।

2. अजीव राशि के 560 भेद-

अरूपी अजीव के 30 और रूपी अजीव के 530, इस तरह 560 भेद हैं।

अरूपी अजीव के 30 भेद- धर्मास्तिकाय के तीन भेद- स्कन्ध (सम्पूर्ण वस्तु) देश (दो तीन आदि कल्पित भाग), प्रदेश (स्कन्ध से संलग्न सूक्ष्म अंश जिसका दूसरा भाग नहीं हो सके) अधर्मास्तिकाय के तीन भेद-स्कन्ध, देश और प्रदेश। आकाशास्तिकाय के तीन भेद- स्कन्ध, देश और प्रदेश ये 9 तथा दसवाँ कालद्रव्य, इस प्रकार 10 भेद हुए।

धर्मास्तिकाय के पाँच भेद- 1. द्रव्य, 2. क्षेत्र, 3. काल, 4. भाव और 5. गुण। अधर्मास्तिकाय के पाँच भेद- 1. द्रव्य, 2. क्षेत्र, 3. काल, 4. भाव और 5. गुण। आकाशास्तिकाय के पाँच भेद- 1. द्रव्य, 2. क्षेत्र, 3. काल, 4. भाव और 5. गुण। कालद्रव्य के 5 भेद- 1. द्रव्य, 2. क्षेत्र, 3. काल, 4. भाव और 5. गुण। ये 20 और ऊपर के 10, ऐसे कुल 30 भेद हुए।

रूपी अजीव के 530 भेद-

पाँच वर्ण के 100 भेद- काला, नीला, लाल, पीला और श्वेत इन पाँच वर्णों में प्रत्येक के 2 गंध, 5 रस, 8 स्पर्श और 5 संस्थान, इन 20 भेदों से गुणा करने पर $20 \times 5 = 100$ भेद हुए।

दो गंध के 46 भेद- सुगंध और दुर्गन्ध इन दो गन्धों में प्रत्येक के 5 वर्ण, 5 रस, 8 स्पर्श और 5 संस्थान, इन 23 भेदों से गुणा करने पर $23 \times 2 = 46$ भेद हुए।

पाँच रस के 100 भेद- तीखा, कड़वा, कषैला, खट्टा और मीठा इन पाँच रसों में प्रत्येक के 5 वर्ण, 2 गंध, 8 स्पर्श और 5 संस्थान। इन 20 भेदों से गुणा करने पर $20 \times 5 = 100$ भेद हुए।

आठ स्पर्श के 184 भेद- कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष इन आठ स्पर्शों में प्रत्येक के 5 वर्ण, 2 गंध, 5 रस, 6 स्पर्श और 5 संस्थान। इन 23 भेदों से गुणा करने पर $23 \times 8 = 184$ भेद हुए।

पाँच संस्थान के 100 भेद- परिमण्डल-थाली अथवा चूड़ी के आकार का गोल। वृत्त-गेंद के आकार का गोल। त्रिभुज-सिंघाड़े अथवा तिपाये के समान। चौकोर- चौकी, पट्टी आदि के समान। आयत- रस्सी, डण्डे आदि के समान लम्बा। इन पाँच संस्थानों में प्रत्येक के 5 वर्ण, 2 गंध, 5 रस और 8 स्पर्श। इन 20 भेदों से गुणा करने पर $20 \times 5 = 100$ भेद हुए। ऐसे कुल (100+46+100+184+100) 530 भेद हुए।

जीव कभी भी अजीव नहीं बन सकता तथा अजीव कभी भी जीव नहीं हो सकता।

22) बावीसवें बोले श्रावकजी के बारह व्रत-

1. पहले अहिंसा व्रत में श्रावकजी त्रस जीव को संकल्प-पूर्वक मारे नहीं, मरावे नहीं, मन, वचन और काय से।
2. दूसरे सत्य व्रत में श्रावकजी मोटा (स्थूल) झूठ बोले नहीं, बोलावे नहीं, मन वचन और काया से।
3. तीसरे अचौर्य व्रत में श्रावकजी स्थूल चोरी करे नहीं, करावे नहीं, मन, वचन और काया से।

4. चौथे परदार विवर्जन एवं स्वदार संतोष व्रत में ¹श्रावकजी पर-स्त्री सेवन का त्याग करे और अपनी स्त्री की मर्यादा करें।
 5. पाँचवें परिग्रह विरमण व्रत में श्रावकजी परिग्रह की मर्यादा करें।
 6. छठे दिशा परिमाण व्रत में श्रावकजी छह दिशा की मर्यादा करें।
 7. सातवें उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत में श्रावकजी छब्बीस बोलों की मर्यादा करें और पन्द्रह कर्मादान का त्याग करें।
 8. आठवें अनर्थ-दण्ड विरमण व्रत में श्रावकजी अनर्थ-दण्ड का त्याग करें।
 9. नौवें सामायिक व्रत में श्रावकजी प्रतिदिन शुद्ध सामायिक करें। (सामायिक का नियम रखें)।
 10. दशवें देशावगासिक व्रत में श्रावकजी देशावगासिक व्रत करें, संवर करें, चौदह नियम चितारें।
 11. ग्यारहवें पौषधोपवास व्रत में श्रावकजी प्रतिपूर्ण पौषध, सात प्रहर के लिए दयाव्रत आदि करें।
 12. बारहवें अतिधिसंविभाग व्रत में श्रमण निर्ग्रन्थों को प्रतिदिन चौदह प्रकार की वस्तुओं में से जो निर्दोष हों, उन्हें देवें।
- आधार- उपासक दशांग अ. 1, हरिभद्रीय आवश्यक अध्ययन 1

व्रत-माया, निदान व मिथ्यादर्शन शल्य से रहित होकर त्याग व मर्यादा में अवस्थित होना 'व्रत' कहलाता है। मैं अमुक पाप नहीं करूँगा, इस प्रकार हिंसादि का प्रत्याख्यान करना 'व्रत' कहलाता है। इच्छा, वांछा, कामना आदि का सोच-समझकर, विवेकपूर्वक त्याग करना, प्रतिज्ञा ग्रहण करना विरति है। यह विरति दो प्रकार की होती है-

1. आंशिक विरति, 2. पूर्ण विरति।

आंशिक विरति अणुव्रत तथा पूर्ण विरति महाव्रत कहलाते हैं जो शल्य रहित होकर व्रत ग्रहण करता है, वही सच्चा व्रती होता है।

जो अगार (गृहस्थ) साधक हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह आदि पापों का पूर्णतः त्याग न करके अपनी शक्ति के अनुसार आंशिक त्याग करता है, उसे अणुव्रती, श्रावक, अथवा श्रमणोपासक के नाम से जाना जाता है। श्रावकों द्वारा ग्रहण किये जाने वाले बारह व्रतों की संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है-

1. **पहले अहिंसा व्रत** में श्रावक जी किसी भी त्रस जीव की हिंसा करें नहीं, करावें नहीं, मन, वचन और काया से। श्रावक एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा से पूर्णरूप से बच नहीं सकता, पर अनावश्यक हिंसा को नियन्त्रित कर लेता है। निरपराध त्रस जीवों को जान-बूझकर संकल्पपूर्वक मारने का दो करण, तीन योग से त्याग करता है।
2. **दूसरे सत्य व्रत** में श्रावकजी स्थूल झूठ बोलें नहीं, बोलावें नहीं, मन, वचन और काया से। इस व्रत में श्रावक जी कन्या-वर सम्बन्धी, गाय आदि पशु सम्बन्धी, जमीन सम्बन्धी, धन-दौलत हड़पने सम्बन्धी, झूठी साक्षी देने सम्बन्धी झूठ बोलने का दो करण, तीन योग से त्याग करते हैं।
3. **तीसरे अचौर्य व्रत** में श्रावक जी स्थूल चोरी करें नहीं, करावें नहीं मन, वचन और काया से। इस व्रत में श्रावक जी किसी के घर, दुकान आदि में घुसकर धन-दौलत बहुमूल्य उपकरण-कागजात आदि चुराने का दो करण, तीन योग से त्याग करते हैं।
4. **चौथे ब्रह्मचर्य व्रत** में श्रावक जी स्व-स्त्री के साथ कुशील सेवन की मर्यादा करें तथा अन्य सभी के साथ कुशील सेवन का त्याग करें। इस व्रत में श्रावक जी देव-देवी सम्बन्धी दो करण, तीन योग से तथा मनुष्य, तिर्यच सम्बन्धी कम से कम एक करण, एक योग से कुशील सेवन का त्याग करते हैं।
5. **पाँचवें अपरिग्रह व्रत** में श्रावक जी परिग्रह की मर्यादा कर बाकी का त्याग करें। इस व्रत में श्रावक जी खेत, जमीन, जायदाद, सोना, चाँदी, धन-नोट, सिक्के आदि, धान्य-अनाज, द्विपद-दास, नौकर, पक्षी आदि, चतुष्पद-गाय, भैंस आदि जानवर, कुविय-पीतल, लोहा आदि, नौ प्रकार के बाह्य परिग्रह की मर्यादा करके बाकी का त्याग करें।
6. **छठे दिशा परिमाण व्रत** में श्रावक जी छहों दिशाओं की मर्यादा करें। इस व्रत में श्रावकजी पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, उँची, नीची इन छह दिशाओं एवं विदिशाओं में गमनागमन की मर्यादा करें।
7. **सातवें उपभोग परिभोग-परिमाण व्रत** में श्रावक जी उपभोग-परिभोग सम्बन्धी छब्बीस बोलों की मर्यादा करें, एक करण, तीन योग से तथा पन्द्रह कर्मादानों का त्याग करें। उपभोग अर्थात् एक बार भोग के काम आने

¹ श्राविकाएँ-पर पुरुष विवर्जन एवं स्वपति सन्तोष व्रत में, इस प्रकार बोलें।

वाली खाने-पीने आदि की वस्तुएँ और परिभोग अर्थात् बार-बार भोग के काम आने वाली जैसे- पहनने, ओढ़ने आदि की वस्तुएँ।

8. **आठवें अनर्थदंड विरमण व्रत** में श्रावक जी अनर्थदण्ड का सेवन करें नहीं, करावें नहीं, मन-वचन और काया से। इस व्रत में श्रावक जी बिना प्रयोजन होने वाली हिंसा का दो करण तीन योग से त्याग करते हैं।
9. **नवमें सामायिक व्रत** में श्रावक जी प्रतिदिन नियमपूर्वक सामायिक करें। इस व्रत में श्रावक जी प्रतिदिन मन, वचन, काया एवं द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन सात प्रकार की शुद्धिपूर्वक सामायिक व्रत की दो करण तीन योग से आराधना-साधना करते हैं।
10. **दसवें देशावगासिक व्रत** में श्रावक जी प्रतिदिन दिशाओं की मर्यादा कर उसके उपरान्त बाहर जाने तथा पाँच आश्रव सेवन करने का त्याग करें। इस व्रत में श्रावक जी चौदह नियम, संवर आदि की आराधना करते हैं।
11. **ग्यारहवें व्रत में श्रावक जी प्रतिपूर्ण पौषध** करें। पौषध का अर्थ- तप संयम के गुणों से आत्मा को पुष्ट करना। पौषध व्रत में अशन-पान-खादिम-स्वादिमरूप चारों प्रकार के आहार का त्याग, कुशील सेवन का त्याग, सोना-चाँदी, जेवरात आदि धन तथा धान्य का त्याग, हिंसाकारी शस्त्र आदि का त्याग करके ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना की जाती है। कम से कम सात प्रहर के लिए की जाने वाली दया भी इसी व्रत के अन्तर्गत मानी जाती है।
12. **बारहवें अतिथि संविभाग व्रत** में श्रावक जी साधु-साध्वी को निर्दोष वस्तु का दान दें। इस व्रत में श्रावक जी अपने घर पधारे हुए साधु एवं साध्वियों को अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, चौकी, पट्टा, शय्या, तृण-संस्तारक, औषध, भेषज इन चौदह प्रकार की निर्दोष अचित्त वस्तु से प्रतिलाभित कर उनके निर्मल ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना में सहायक बनते हैं। प्रत्येक श्रावक को निर्दोष वस्तु साधु-साध्वियों को देने की भावना भानी (रखनी) चाहिए। उपर्युक्त चौदह प्रकार की वस्तुओं में प्रारंभ की आठ वस्तुएँ अप्रतिहारी अर्थात् वापस नहीं लौटाने योग्य कहलाती हैं तथा अन्तिम छह वस्तुएँ प्रतिहारी अर्थात् वापस लौटाने योग्य कहलाती हैं।

इन बारह व्रतों में प्रथम पाँच अणुव्रत हैं, उसके बाद तीन गुणव्रत और शेष चार शिक्षाव्रत हैं।

इस प्रकार जो साधक इन बारह व्रतों को सही रूप में समझकर, इनका पालन करता है वही सच्चा श्रावक कहलाने का अधिकारी है।

- 23) *तेईसवें बोले साधुजी के पाँच महाव्रत- 1. अहिंसा महाव्रत, 2. सत्य महाव्रत, 3. अचौर्य महाव्रत, 4. ब्रह्मचर्य महाव्रत और 5. अपरिग्रह महाव्रत।*

महाव्रत-हिंसादि सावद्य प्रवृत्तियों का तीन करण तीन योग से त्याग करना 'महाव्रत' कहलाता है। सर्व विरति अर्थात् सम्पूर्ण रीति से हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग करना 'महाव्रत' कहलाता है।

1. **पहले अहिंसा महाव्रत** में साधुजी महाराज, त्रस एवं स्थावर सभी प्रकार के जीवों की हिंसा करे नहीं, करावें नहीं और करते हुए को भला जाने नहीं, मन-वचन-काया से। तीन करण और तीन योग से किसी भी प्राणी की जीवन पर्यन्त हिंसा नहीं करते। सभी प्राणियों के प्रति दया व करुणा का भाव रखना भी अहिंसा महाव्रत का अनिवार्य अंग है।
2. **दूसरे सत्य महाव्रत** में साधुजी महाराज, सर्वथा प्रकार से असत्य वचन (झूठ) बोले नहीं, बोलावे नहीं, बोलते हुए को भला जाने नहीं, मन-वचन-काया से। अर्थात्-तीन करण तीन योग से जीवन पर्यन्त असत्य का त्याग कर सत्य महाव्रत को ग्रहण किया जाता है।
3. **तीसरे अचौर्य महाव्रत** में साधुजी महाराज, सर्वथा प्रकार से चोरी का त्याग करे तीन करण तीन योग से जीवन पर्यन्त के लिए। दूसरे शब्दों में ग्राम, नगर या जंगल में छोटी, बड़ी, अल्प कीमत अथवा अधिक कीमत की, सचित्त, अचित्त वस्तु की चोरी करे नहीं, करावे नहीं, करते हुए को भला जाने नहीं, मन-वचन-काया से जीवन पर्यन्त। साधु जी महाराज को एक तिनका भी बिना आज्ञा के ग्रहण करना नहीं कल्पता।
4. **चौथे ब्रह्मचर्य महाव्रत** में साधुजी महाराज, सर्वथा प्रकार से मैथुन सेवन करे नहीं, करावे नहीं, करते हुए को भला जाने नहीं, मन-वचन-काया से जीवन पर्यन्त। इस प्रकार तीन करण, तीन योग से सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना, ब्रह्मचर्य महाव्रत कहलाता है। साधुजी स्त्री जाति का स्पर्श नहीं करते, उनके श्रृंगार की कथा नहीं करते और न ही विकार दृष्टि से देखते हैं।
5. **पाँचवें महाव्रत** में साधुजी महाराज किसी भी प्रकार का परिग्रह रखे नहीं, रखावे नहीं और रखते हुए को भला जाने नहीं, मन-वचन-काया से जीवन पर्यन्त। इस महाव्रत में अल्प-बहुत, छोटा-बड़ा, सचित्त-अचित्त किसी

भी प्रकार का परिग्रह रखने का तीन करण, तीन योग से त्याग किया जाता है। संयम की रक्षा एवं पालना हेतु वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण स्वाध्याय हेतु पुस्तकें आदि जो सामग्री रखी जाती हैं, उन पर भी आसक्ति नहीं रखते।

24) चौबीसवें बोले भंग 49 (ऊनपचास)

भंग-विकल्प रचना को 'भंग' कहते हैं। अथवा कोई भी व्रत-नियम, त्याग-प्रत्याख्यान जितने प्रकार के करण-योगों से ग्रहण किया जा सकता है, उन प्रकारों को 'भंग' कहते हैं।

इसमें यह बतलाया गया है कि किसी भी व्रत-नियम को श्रावक-श्राविकाएँ कितनी तरह से धारण कर सकते हैं। ये भंग तीन करण, तीन योग के आधार पर बनाये गये हैं।

करण का अर्थ है- किस दोष का सेवन स्वयं नहीं करना, दूसरों से नहीं कराना और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करना।

योग का अर्थ है- मन से वचन से काया से दोष का सेवन नहीं करना।

इन करण और योगों के आधार पर बनने वाले 49 भंग इस प्रकार हैं-

नौ अंक- 11, 12, 13, 21, 22, 23, 31, 32, 33 इसमें प्रथम अंक 'करण' का दूसरा अंक योग का सूचक है।

(1 से 9) अंक 11 के भंग नौ। एक करण और एक योग से कहना- 1. करूँ नहीं-मनसा, 2. करूँ नहीं-वयसा, 3. करूँ नहीं-कायसा, 4. कराऊँ नहीं-मनसा, 5. कराऊँ नहीं-वयसा, 6. कराऊँ नहीं-कायसा, 7. अनुमोदूँ नहीं-मनसा, 8. अनुमोदूँ नहीं-वयसा, 9. अनुमोदूँ नहीं-कायसा।

(10 से 18) अंक 12 के भंग नौ। एक करण और दो योग से कहना- 10. करूँ नहीं-मनसा वयसा, 11. करूँ नहीं-मनसा कायसा, 12. करूँ नहीं-वयसा कायसा, 13. कराऊँ नहीं-मनसा वयसा, 14. कराऊँ नहीं-मनसा कायसा, 15. कराऊँ नहीं-वयसा कायसा, 16. अनुमोदूँ नहीं-मनसा वयसा, 17. अनुमोदूँ नहीं-मनसा कायसा, 18. अनुमोदूँ नहीं-वयसा कायसा।

(19 से 21) अंक 13 के भंग तीन। एक करण और तीन योग से कहना- 19. करूँ नहीं-मनसा वयसा कायसा, 20. कराऊँ नहीं-मनसा वयसा कायसा, 21. अनुमोदूँ नहीं-मनसा वयसा कायसा।

(22 से 30) अंक 21 के भंग नौ। दो करण और एक योग से कहना- 22. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं-मनसा, 23. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं-वयसा, 24. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं-कायसा, 25. करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-मनसा, 26. करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-वयसा, 27. करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-कायसा, 28. कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-मनसा, 29. कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-वयसा, 30. कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-कायसा।

(31 से 39) अंक 22 के भंग नौ। दो करण और दो योग से कहना- 31. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं-मनसा वयसा, 32. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं-मनसा कायसा, 33. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं- वयसा कायसा, 34. करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-मनसा वयसा, 35. करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-मनसा कायसा, 36. करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-वयसा कायसा, 37. कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-मनसा वयसा, 38. कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-मनसा कायसा, 39. कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-वयसा कायसा।

(40 से 42) अंक 23 के भंग तीन। दो करण और तीन योग से कहना- 40. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं-मनसा वयसा कायसा, 41. करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-मनसा वयसा कायसा, 42. कराऊँ, नहीं अनुमोदूँ नहीं-मनसा वयसा कायसा।

(43 से 45) अंक 31 के भंग तीन। तीन करण और एक योग से कहना- 43. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-मनसा, 44. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-वयसा, 45. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-कायसा।

(46 से 48) अंक 32 के भंग तीन। तीन करण और दो योग से कहना- 46. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-मनसा वयसा, 47. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-मनसा कायसा, 48. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-वयसा कायसा।

(49) अंक 33 का भंग एक। तीन करण और तीन योग से कहना- 49. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं,

अनुमोदूँ नहीं-मनसा वयसा कायसा ।

- आधार- भगवती सूत्र शतक-8, उद्देशक-5

इन 49 भंगों में से तीसरा भंग- करूँ नहीं-कायसा से प्रायः संवर व चौथा अणुव्रत ग्रहण किया जाता है। 19 वाँ भंग- करूँ नहीं-मनसा, वयसा, कायसा से पाँचवाँ, छट्ठा, सातवाँ व 10वाँ व्रत ग्रहण किया जाता है। 40वाँ भंग- करूँ नहीं, कराऊँ नहीं-मनसा, वयसा, कायसा से दया, सामायिक, पौषध व्रत ग्रहण किये जाते हैं। साथ ही 1, 2, 3, 4, 8, 9, 10 और 11वाँ व्रत भी इसी भंग से ग्रहण किये जाते हैं।

उनपचासवाँ भंग- करूँ नहीं, कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-मनसा, वयसा, कायसा से संलेखना ग्रहण की जाती है तथा प्रतिमाधारी श्रावक भी इसी भंग से व्रतों का पालन करते हैं।

श्रावक-श्राविकाओं में उक्त सभी 49 भंग पाये जा सकते हैं। श्रावक-श्राविकाएँ अपनी शक्ति एवं योग्यता के अनुसार किसी भी भंग से व्रत-नियम-त्याग-प्रत्याख्यान अवश्यमेव धारण एवं पालन करें।

25) पच्चीसवें बोले चारित्र पाँच- 1. सामायिक चारित्र, 2. छेदोपस्थापनीय चारित्र, 3. परिहार विशुद्धि चारित्र, 4. सूक्ष्मसंपराय चारित्र और 5. यथाख्यात चारित्र।

- आधार- ठाणांग-5, सूत्र-428, अनुयोगद्वार

चारित्र- आत्मा का विभाव से स्वभाव की ओर गति करना 'चारित्र' हैं। जिसके द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जा सके, उसे 'चारित्र' कहते हैं। सभी पाप वृत्तियों के त्याग को भी 'चारित्र' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि पाप व सावद्य प्रवृत्ति का त्याग कर मोक्ष हेतु संयम में जो शुभ या शुद्ध प्रवृत्ति की जाती है, उसी का नाम चारित्र है। चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से होने वाले विरति रूप परिणाम को 'चारित्र' कहते हैं।

चारित्र के पाँच भेद इस प्रकार हैं-

1. **सामायिक चारित्र-** सामायिक शब्द सम् + आय + इक, से बना है। जिसका अर्थ है-राग-द्वेष रहित आय अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र का आना और मोक्षरूप फल का प्राप्त होना। आत्म स्वभाव में, समभाव में स्थिर होना सामायिक है। राग-द्वेष रहित आत्मा के क्रियानुष्ठान को 'सामायिक चारित्र' कहते हैं। सर्व-सावद्य व्यापार का त्याग करना एवं निरवद्य व्यापार का सेवन करना 'सामायिक चारित्र' है। संयम ग्रहण करने पर साधक को सर्वप्रथम सामायिक चारित्र ही ग्रहण कराया जाता है। सामायिक चारित्र के दो भेद हैं-
 - (क) इत्वरिक- अल्प समय के लिए सामायिक चारित्र ग्रहण करना इत्वरिक सामायिक चारित्र है। पहले और अन्तिम तीर्थंकर के शासन काल में यह चारित्र होता है। इसका काल जघन्य सात दिन, मध्यम 4 महीने व उत्कृष्ट 6 माह होता है।
 - (ख) यावत्कथित- यावज्जीवन की सामायिक को यावत्कथित सामायिक चारित्र कहते हैं। अर्थात् जीवन पर्यन्त के लिए सामायिक चारित्र ग्रहण करना। यह चारित्र भरत-ऐरवत क्षेत्र में मध्य के 22 तीर्थंकरों के शासन काल तथा महाविदेह क्षेत्र में पाया जाता है।
2. **छेदोपस्थापनीय चारित्र-** महाव्रतों में कोई दोष लगने पर अथवा बड़ी दीक्षा दिलाने पर पुनः महाव्रतों में आरोपित करना 'छेदोपस्थापनीय चारित्र' है। इसमें पूर्व की दीक्षा पर्याय का छेदन कर पुनः महाव्रतों में उपस्थापन किया जाता है। यह चारित्र प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शासन काल में होता है। इसके भी दो भेद हैं-
 - (अ) सातिचार-मूल गुणों का घात होने पर, अत्यधिक दोष लगने पर प्रायश्चित्त स्वरूप दीक्षा पर्याय में कमी करना अथवा नवीन दीक्षा देना (पुरानी दीक्षा पर्याय का छेदन करके) 'सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र' कहलाता है।
 - (ब) निरतिचार- छोटी दीक्षा वालों को जघन्य सात दिन, मध्यम 4 माह, उत्कृष्ट 6 माह बाद बड़ी दीक्षा देना 'निरतिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र' है। पूर्व तीर्थंकर के शासनवर्ती साधु-साध्वी को भी वर्तमान तीर्थंकर के शासन में आने पर उन्हें इस छेदोपस्थापनीय चारित्र में आरोपित किया जाता है।
3. **परिहारविशुद्धि चारित्र-** यह चारित्र कर्मों का विशेषरूप से परिहार करने, अलग हटाने तथा आत्मा को शुद्ध बनाने की करते हैं। नौ मुनि इस चारित्र की एक साथ आराधना करते हैं। चार साधु छः मास तक तप करते हैं। चार साधु उनकी सेवा करते हैं तथा एक वाचनाचार्य होता है, जिसे आठों साधु वंदना करते हैं। प्रथम छः माह बाद सेवा करने वाले 4 साधु तप करते हैं तथा तप करने वाले सेवा करते हैं, किन्तु वाचनाचार्य वही रहता है।

फिर 12 माह बाद वाचनाचार्य 6 माह तक तप करता है। शेष आठ में सात उनकी सेवा करते हैं तथा एक साधु वाचनाचार्य बनता है। इस प्रकार कुल 18 माह तक यह क्रम चलता है।

तप करने वाले गर्मी में- जघन्य उपवास, मध्यम बेला व उत्कृष्ट तेल, सर्दी में- जघन्य बेला, मध्यम तेल, उत्कृष्ट चौला तथा चातुर्मास में- जघन्य तेल, मध्यम चौला, उत्कृष्ट पचौला (पाँच उपवास) कर पारणा आयम्बिल से करते हैं। वाचनाचार्य व वैयावृत्य करने वाले नित्य भोजी भी हो सकते हैं। किन्तु इनका भोजन भी आयम्बिल युक्त होता है।

जो साधु जघन्य नौ पूर्व की तीसरी आचार वस्तु के ज्ञाता हो, कम से कम 20 वर्ष की दीक्षा पर्याय हो तथा आयु 29 वर्ष से कम न हो, वे ही इस चारित्र का पालन कर सकते हैं। यह चारित्र तीर्थकर प्रभु के पास अथवा जिसने परिहारविशुद्धि चारित्र की आराधना कर रखी है, उनके सान्निध्य में अंगीकार किया जा सकता है। यह चारित्र भरत, ऐरावत क्षेत्र में प्रथम व अन्तिम तीर्थकर के शासन काल में ही मिलता है। मध्य के 22 तीर्थकर एवं महाविदेह क्षेत्र में छेदोपस्थापनीय तथा परिहार विशुद्धि ये दोनों ही चारित्र नहीं पाये जाते हैं।

4. **सूक्ष्म सम्पराय चारित्र**- जिन अणुगारों में बादर कषाय का उदय बिल्कुल भी नहीं रहता तथा सूक्ष्म कषाय में भी मात्र संज्वलन लोभ कषाय का ही उदय शेष बचता हो, उन महापुरुषों के चारित्र को 'सूक्ष्म सम्पराय चारित्र' कहते हैं। इस चारित्र के धारक दो श्रेणि वाले होते हैं। 1. उपशम श्रेणि वाले और 2. क्षपक श्रेणि वाले। यदि उपशम श्रेणि वाले हैं तो वे दशवें से ग्यारहवें गुणस्थान में जाते हैं तथा क्षपक श्रेणि वाले दसवें से सीधे बारहवें गुणस्थान में जाते हैं।

5. **यथाख्यात चारित्र**- राग-द्वेष, कषाय, मोह आदि के उदय से पूर्णतः मुक्त होकर तीर्थकर भगवन्तों द्वारा जो शुद्ध चारित्र का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, उसे उसी रूप में आराधन करना, पालना 'यथाख्यात चारित्र' कहलाता है। इस चारित्र के प्रमुख दो भेद इस प्रकार हैं-

(क) उपशान्तकषाय वीतरागी- जिन्होंने सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का सर्वथा प्रकार से उपशम कर दिया है, तथा किसी भी प्रकार के मोह का उदय नहीं है, ऐसे ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती साधु 'उपशान्त कषाय वीतरागी' कहलाते हैं।

(ख) क्षीणकषाय वीतरागी- जिन्होंने मोहनीय कर्म का सम्पूर्ण क्षय कर दिया है ऐसे बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती साधु 'क्षीणकषाय वीतरागी' कहलाते हैं।

भरत क्षेत्र में वर्तमान समय में सामायिक व छेदोपस्थापनीय ये दो चारित्र ही पाये जाते हैं। शेष तीन नहीं पाये जाते।

व्यवहार सम्यक्त्व के 67 बोल

(1) श्रद्धा-4, (2) लिंग-3, (3) विनय-10, (4) शुद्धि-3, (5) लक्षण-5, (6) दूषण-5, (7) भूषण-5, (8) प्रभावना-8, (9) आगार-6, (10) यतना-6, (11) भावना-6, (12) स्थानक-6.

1. **श्रद्धा-4** : तत्त्व श्रद्धा को जागृत करने तथा सुरक्षित रखने के उपायों को 'श्रद्धा' कहते हैं।
 1. परमार्थ अर्थात् जीवादि नव तत्त्वों का परिचय प्राप्त करना।
 2. परमार्थ अर्थात् जीवादि नव तत्त्वों के स्वरूप को भली प्रकार जानने वाले आचार्य आदि की सेवा करना।
 3. जिन्होंने सम्यक्त्व का वमन कर दिया है, उन सत्-श्रद्धाभ्रष्ट पुरुषों की संगति नहीं करना।
 4. कुदृष्टि अर्थात् कुदर्शनियों की संगति का त्याग करना।
2. **लिंग-3** : श्रद्धावान व्यक्ति की वह बाह्य रुचि जिससे आन्तरिक रुचि का ज्ञान होता हो, उसे 'लिंग' कहते हैं।
 1. जैसे तरुण (कामी) पुरुष राग रंग में विशेष अनुराग रखता है, उसी प्रकार भव्य जीव शास्त्र श्रवण में अनुरक्त रहे।
 2. जैसे तीन दिन का भूखा आदमी खीर खांड का भोजन रुचि सहित करता है, उसी प्रकार वीतराग की वाणी आदर सहित सुने।
 3. जिस प्रकार अनपढ़ को पढ़ने की चाह रहती है और पढ़ने के अवसर मिलते ही हर्षित होता है, उसी प्रकार वीतराग की वाणी सुनकर हर्षित होंगे।
3. **विनय-10**: श्रद्धा के कारण पैदा होने वाली हृदय की कोमल वृत्तियों को 'विनय' कहते हैं।
 1. अरिहन्त भगवान की विनय भक्ति करना।
 2. सिद्ध भगवान की विनय भक्ति करना।
 3. आचार्य महाराज की विनय भक्ति करना।
 4. उपाध्याय महाराज की विनय भक्ति करना।
 5. स्थविर महाराज की विनय भक्ति करना।
 6. कुल अर्थात् एक आचार्य के शिष्य समुदाय की विनय भक्ति करना।
 7. गण अर्थात् अनेक आचार्यों के शिष्य समुदायों की विनय भक्ति करना।
 8. चतुर्विध संघ की विनय भक्ति करना।
 9. साधर्मी की विनय भक्ति करना।
 10. क्रियावान की विनय भक्ति करना।
4. **शुद्धि-3**: विकृत श्रद्धा के निराकरण के प्रयत्न को 'शुद्धि' कहते हैं।
 1. मनशुद्धि- मन से वीतराग देव व सुगुरु का स्मरण, ध्यान और गुणगान करें, अन्य सरागी देव का नहीं करें।
 2. वचन-शुद्धि- वाणी से वीतराग देव व सुगुरु का गुणगान करें, अन्य सरागी देव का नहीं करें।
 3. काय-शुद्धि- काय से श्री वीतराग देव व सुगुरु को वन्दना-नमस्कार करें, अन्य सरागी देव को नहीं करें।
5. **लक्षण-5**: श्रद्धा होने पर जो गुण आवश्यक रूप से पाये जाने चाहिये, वे 'लक्षण' कहलाते हैं।
 1. सम- अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न होना 'सम' है।
 2. संवेग- मोक्ष की तीव्र इच्छा 'संवेग' है।
 3. निर्वेद- संसार से उदासीनता रूप वैराग्य भाव का होना 'निर्वेद' है।
 4. अनुकम्पा- दुःखी जीवों के दुःखों को मिटाने की इच्छा 'अनुकम्पा' है। द्रव्य और भाव के भेद से अनुकम्पा दो प्रकार की है। शक्तिपूर्वक दुःखी जीवों के दुःख दूर करना द्रव्य अनुकम्पा है तथा दुःखी को देखकर दया से हृदय कोमल हो जाना, भाव अनुकम्पा है।
 5. आस्था- जिनेन्द्र भगवान के फरमाये हुए सूक्ष्म, गूढ़, अतीन्द्रिय, धर्मास्तिकाय, आत्मा, परलोक आदि पर श्रद्धा करना 'आस्था' है।
6. **दूषण-5**: श्रद्धा के बीच होने वाले विक्षेपों को 'दूषण' कहते हैं।
 1. शंका- तत्त्व के विषय में सन्देह-संशय करना 'शंका' है।
 2. कांक्षा- अन्यतीर्थियों के आडम्बर को देखकर उनकी चाह करना 'कांक्षा' है।

3. वितिगिच्छा- धार्मिक क्रिया के विषय में फल के प्रति संदेह करना व गुणियों के मलिन वेष को देखकर घृणा करना 'वितिगिच्छा' है।
4. पर-पाखण्डी प्रशंसा- सर्वज्ञ प्रणीत मत के सिवाय अन्य मतावलम्बियों की प्रशंसा करना 'पर-पाखण्डी प्रशंसा' है।
5. पर-पाखण्डी संस्तव- सर्वज्ञ प्रणीत मत के सिवाय अन्य मत वालों के साथ सहवास, संलाप आदि रूप में परिचय करना 'पर-पाखण्डी संस्तव' है।
7. **भूषण-5:** जिन प्रवृत्तियों से श्रद्धा में अधिक विशिष्टता आती हो, उन्हें 'भूषण' कहते हैं।
 1. जिनशासन में निपुण व कुशल हों।
 2. जिनशासन की प्रभावना करें अर्थात् जिनशासन के गुणों को दीपावें व सुसाधुओं की सेवा-भक्ति करें।
 3. चार तीर्थ की सेवा करें।
 4. शिथिल पुरुषों को जो धर्म में अस्थिर हों, उन्हें उपदेशादि द्वारा जिन धर्म में स्थिर करें व अन्य मतावलम्बियों को जिन धर्म की महिमा बतलाकर इसके मार्ग की ओर लगावें।
 5. अरिहन्त, साधु तथा गुणी पुरुषों का आदर सत्कार करें और उनकी विनय भक्ति करें।
8. **प्रभावना-8:** जैन धर्म की उन्नति एवं प्रचार के लिए प्रयत्न करना 'प्रभावना' है और जैन धर्म की उन्नति करने वाला प्रभावक कहलाता है।
 1. प्रवचन प्रभावक- जिस काल में जितने सूत्र उपलब्ध हों, उनका ज्ञान बढ़ाकर धर्म को (दीपावे) चमकावें।
 2. धर्मकथा प्रभावक- धर्म कथा सुनाने में चतुर होकर धर्म को दीपावें।
 3. वादी प्रभावक- प्रत्यक्ष हेतु दृष्टान्त पूर्वक अन्यमतियों से वाद करके धर्म को दीपाने में चतुर हों।
 4. नैमित्तिक प्रभावक- निमित्त ज्ञान से भूत, भविष्य और वर्तमान काल की बात जानने वाला होकर धर्म को चमकाएँ।
 5. तपस्वी प्रभावक- कठिन तपस्या करके धर्म की उन्नति करने वाले हों।
 6. विद्यावान प्रभावक- अनेक विद्याओं का जानकार होकर धर्म की उन्नति करें-चमकावें।
 7. प्रकट व्रताचारी- प्रसिद्ध व्रत रूप चार स्कन्ध को धारण करने वाले हों। सम्यक् दृष्टि महोत्सव पूर्वक जन समूह में सपत्नी ब्रह्मचर्य व्रत रूप शील स्कन्ध, रात्रि चौविहार, हरी सब्जी का त्याग, सचित्त जल के त्याग रूप महान् व्रत जीवन पर्यन्त के लिये धारण करके धर्म (को दीपावें) उन्नति करें।
 8. कवि प्रभावक- शास्त्र के अनुसार कवित रचकर धर्म की उन्नति करें।
9. **आगार-6:** व्रत अंगीकार करते समय रखी जाने वाली छूट को 'आगार' कहते हैं।
 1. राजाभियोग- राजा की पराधीनता से यदि समकितधारी श्रावक को अनिच्छा पूर्वक अन्यतीर्थिक तथा उनके माने हुए देवादि को वन्दना नमस्कार करना पड़े तो श्रावक सम्यक्त्व व्रत का अतिक्रमण नहीं करता।
 2. गणाभियोग- गण अर्थात् बहुजन समुदाय के आग्रह से अनिच्छा पूर्वक
 3. बलाभियोग- बलवान् पुरुष द्वारा विवश किये जाने पर अनिच्छापूर्वक
 4. देवाभियोग- देवता द्वारा बाध्य किये जाने पर अनिच्छापूर्वक
 5. गुरु-निग्रह- माता, पिता, गुरुजन आदि के आग्रह वश अनिच्छापूर्वक
 6. वृत्तिकान्तर- अटवी (जंगल) में जिस प्रकार आजीविका प्राप्त करना कठिन है, उसी प्रकार क्षेत्र और काल यदि आजीविका के प्रतिकूल हो जाएँ और जीवन-निर्वाह होना कठिन हो जाए तब ऐसी दशा में अनिच्छापूर्वक अन्यतीर्थिक तथा उनके माने हुए देवादि को यदि वन्दना नमस्कार करना पड़े तो श्रावक सम्यक्त्व व्रत का अतिक्रमण नहीं करता।
10. **यतना-6:** सम्यक्त्व रूप अनमोल धन को मिथ्यात्व रूप चोरों से सुरक्षित रखने के प्रयत्न को 'यतना' कहते हैं।
 1. आलाप- मिथ्यादृष्टि से बिना कारण न बोलें और सम्यग्दृष्टि से ज्ञान चर्चा के लिए बोलें।
 2. संलाप- मिथ्यादृष्टि से विशेष भाषण न करें और सम्यग्दृष्टि से बार-बार चर्चा अवश्य करें।
 3. दान- मिथ्यादृष्टि को गुरु बुद्धि से दान न दें, लेकिन अनुकम्पावश दान देने के लिए निषेध नहीं है। सम्यग्दृष्टि को गुरु बुद्धि से दान दें।
 4. मान- सम्यग्दृष्टि का बहुत आदर-सम्मान करें, मिथ्यादृष्टि का नहीं।
 5. वन्दना- सम्यग्दृष्टि को वन्दना करें। मिथ्यादृष्टि को नहीं।

6. गुणग्राम- सम्यक् दृष्टि के गुणों का वर्णन करें। मिथ्यादृष्टि का नहीं।
11. भावना-6: विविध विचारों से समकित में दृढ़ होना 'भावना' है।
1. समकित, धर्म रूपी वृक्ष का मूल है।
 2. समकित, धर्म रूपी नगर का दरवाजा है।
 3. समकित, धर्म रूपी प्रासाद की नींव है।
 4. समकित, धर्म रूपी आभूषणों की पेटी है।
 5. समकित, धर्म रूपी वस्तुओं की दुकान है।
 6. समकित, धर्म रूपी भोजन का थाल है।
12. स्थानक-6: धर्म की उत्पत्ति व धर्म में स्थिर होने में सहायक होने वाले स्थान को 'स्थानक' कहते हैं।
1. जीव चेतना लक्षण युक्त है।
 2. जीव शाश्वत अर्थात् उत्पत्ति और विनाश रहित है।
 3. जीव शुभाशुभ कर्मों का कर्ता है।
 4. जीव किये हुए कर्मों (सुख-दुःख) का स्वयं भोक्ता है।
 5. भव्य जीव कर्मों को क्षय करके मोक्ष में जाता है।
 6. सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप मोक्ष के उपाय हैं।

सुपच्चक्खाण दुपच्चक्खाण

श्री भगवती सूत्र के सातवें शतक के दूसरे उद्देशक में 'सुपच्चक्खाण-दुपच्चक्खाण' का स्वरूप इस प्रकार बताया है -

1. अहो भगवन् ! कोई कहता है कि मुझे सर्व प्राण, सर्व भूत, सर्व जीव और सर्व सत्त्व को मारने का पच्चक्खाण है, तो उसके पच्चक्खाण को 'सुपच्चक्खाण' कहना चाहिए या 'दुपच्चक्खाण' ?

हे गौतम ! उसके पच्चक्खाण को कदाचित् 'सुपच्चक्खाण' और कदाचित् 'दुपच्चक्खाण' कहना चाहिए।

अहो भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

हे गौतम ! जिसको ऐसा ज्ञान नहीं है कि ये जीव हैं, ये अजीव हैं, ये त्रस हैं, ये स्थावर हैं, फिर भी वह कहता है कि 'मुझे सर्व प्राण, सर्वभूत, सर्व जीव और सर्व सत्त्व को हनने का त्याग है' तो 1. वह मृषावादी है, सत्यवादी नहीं, 2. तीन करण तीन योग से असंयत है, 3. अविरत है, 4. पाप कर्म का प्रत्याख्यानी नहीं है, 5. वह सक्रिय (आस्रव सहित) है, 6. असंब्रत (संवर रहित) है, 7. छह काया का दण्डी (दण्ड देने वाला-हिंसा करने वाला) है, 8. एकान्त बाल है। उसके पच्चक्खाण, सुपच्चक्खाण हैं, दुपच्चक्खाण नहीं।

जिसको ऐसा ज्ञान है कि 'ये जीव हैं, ये अजीव हैं, ये त्रस हैं, ये स्थावर हैं, इस प्रकार जानता हुआ वह कहता है कि 'मुझे सर्व प्राण, सर्वभूत, सर्व जीव और सर्व सत्त्व को हनने का त्याग है' तो 1. वह सत्यवादी है, मृषावादी नहीं, 2. तीन करण तीन योग से संयत है, 3. विरत है, 4. पापकर्म का पच्चक्खाण किया है, 5. अक्रिय (आस्रवरहित) है, 6. संब्रत (संवर सहित) है, 7. छह काया का रक्षक है, 8. एकान्त पण्डित-ज्ञानी है, उसके पच्चक्खाण, सुपच्चक्खाण हैं, दुपच्चक्खाण नहीं।

2. अहो भगवन् ! पच्चक्खाण कितने प्रकार के हैं ?

हे गौतम ! पच्चक्खाण दो प्रकार के हैं- 1. मूलगुण पच्चक्खाण और 2. उत्तरगुण पच्चक्खाण।

सर्व मूलगुण पच्चक्खाण के 5 भेद हैं- सर्वथा प्रकार से हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह का त्याग करना अर्थात् पाँचों महाव्रतों का पालन करना।

देश मूलगुण पच्चक्खाण के 5 भेद हैं- स्थूल प्राणातिपात यावत् स्थूल परिग्रह का त्याग करना अर्थात् पाँच अणुव्रतों का पालन करना।

उत्तरगुण पच्चक्खाण के दो भेद हैं- 1. सर्व उत्तरगुण पच्चक्खाण, 2. देश उत्तरगुण पच्चक्खाण। सर्व उत्तरगुण पच्चक्खाण के 10 भेद हैं। यथा-

गाथा-

अणागयं अइक्कतं, कोडीसहियं णियंटियं चेव ।

सागारमणागारं, परिमाणकंडं णिरवसेसं ॥

संकेयं चेव अद्धाए, पच्चक्खाणं भवे दसहा ॥

1. अणागयं- जो तप आगामी काल में करना है, वह पहले कर लें।
2. अइक्कतं- जो तप पहले करना था, वह किसी कारण से नहीं हो सका तो पीछे करें।
3. कोडीसहियं- पूर्व तप की समाप्ति और उत्तर तप का प्रारम्भ, ये दोनों कोटियाँ जिस तप में मिलती हैं। अर्थात् पूर्व तप का पारणा हो और दूसरे दिन से नये तप का प्रारम्भ होता है। उसे कोटि-सहित तप कहते हैं। जैसे- रत्नावली, कनकावली आदि।
4. णियंटियं- नियमित दिन में विघ्न आने पर भी धारा हुआ तप अवश्य करें।
5. सागारं- आगार सहित तप करें।
6. अणागारं- आगार रहित तप करें।
7. परिमाणकंडं- दत्ति, कवल, घर, चीज आदि का परिमाण करें।
8. णिरवसेसं- चारों प्रकार के आहार का त्याग करे, संशारा करें।

9. संकेयं- मुष्टि आदि संकेतपूर्वक तप करें।
 10. अद्धा- काल का परिमाण कर तप करें। अद्धातप के 10 भेद हैं- 1. नवकारसी, 2. पोरिसी, 3. दो पोरिसी, 4. एकासन, 5. एकलठाण, 6. आयम्बिल, 7. नीवि, 8. उपवास, 9. अभिग्रह और 10. दिवस-चरिम।

देश उत्तरगुण पच्चक्खाण के 7 भेद हैं- तीन गुणव्रत (दिशा-परिमाणव्रत, उपभोगपरिभोग परिमाण व्रत, अनर्थदण्ड विरमण व्रत) चार शिक्षाव्रत- (सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास और अतिथि-संविभाग व्रत) और संलेखना तप।²

3. अहो भगवन् ! जीव, मूलगुण पच्चक्खाणी हैं उत्तरगुण पच्चक्खाणी हैं या अपच्चक्खाणी हैं ?

हे गौतम ! समुच्चय जीवों में तीनों भंग पाये जाते हैं। मनुष्य और तिर्यच पंचेन्द्रिय में तीनों भंग पाये जाते हैं। शेष 22 दण्डक अपच्चक्खाणी हैं।

अल्पबहुत्व- समुच्चय जीवों में सबसे थोड़े मूलगुण पच्चक्खाणी, उनसे उत्तरगुण पच्चक्खाणी असंख्यात गुण, उनसे अपच्चक्खाणी अनन्तगुण।

तिर्यच पंचेन्द्रिय में सबसे थोड़े मूलगुण पच्चक्खाणी, उनसे उत्तरगुण पच्चक्खाणी असंख्यात गुण, उनसे अपच्चक्खाणी असंख्यात गुण।

मनुष्य में सबसे थोड़े मूलगुण पच्चक्खाणी, उनसे उत्तर गुण पच्चक्खाणी संख्यात गुण, उनसे अपच्चक्खाणी असंख्यात गुण।³

4. अहो भगवन् ! जीव, सर्व मूलगुण पच्चक्खाणी हैं, देश मूलगुण पच्चक्खाणी हैं, अपच्चक्खाणी हैं ?

हे गौतम ! समुच्चय जीवों और मनुष्यों में तीनों भेद हैं। नारकी से लगा कर वैमानिक तक (मनुष्य और तिर्यच पंचेन्द्रिय वर्ज कर) 22 दण्डक में एक अपच्चक्खाणी भंग ही पाया जाता है। तिर्यच पंचेन्द्रिय में 1. देश मूलगुण पच्चक्खाणी और 2. अपच्चक्खाणी, ये दो भंग हैं।

अल्पबहुत्व- समुच्चय जीवों में सबसे थोड़े सर्व मूलगुण पच्चक्खाणी, उनसे देश मूलगुण पच्चक्खाणी असंख्यात गुण, उनसे अपच्चक्खाणी अनन्त गुण।

तिर्यच पंचेन्द्रिय में सबसे थोड़े देश मूलगुण पच्चक्खाणी, उनसे अपच्चक्खाणी असंख्यात गुण।

मनुष्य में सबसे थोड़े सर्व मूलगुण पच्चक्खाणी, उनसे देश मूलगुण पच्चक्खाणी संख्यात गुण, उनसे अपच्चक्खाणी असंख्यात गुण।

5. अहो भगवन् ! जीव, सर्व उत्तरगुण पच्चक्खाणी हैं, देश उत्तरगुण पच्चक्खाणी हैं या अपच्चक्खाणी हैं ?

हे गौतम ! समुच्चय जीवों में तीनों भेद हैं। मनुष्य और तिर्यच पंचेन्द्रिय में भी तीन-तीन भेद हैं। शेष 22 दण्डक में केवल अपच्चक्खाणी का एक भेद ही है।

अल्पबहुत्व- समुच्चय जीवों में सबसे थोड़े सर्व-उत्तरगुण पच्चक्खाणी हैं, उनसे देश-उत्तरगुण पच्चक्खाणी असंख्यात गुण, उनसे अपच्चक्खाणी अनन्त गुण। तिर्यच पंचेन्द्रिय में सबसे थोड़े सर्व-उत्तरगुण पच्चक्खाणी, उनसे देश उत्तरगुण पच्चक्खाणी असंख्यात गुण, उनसे अपच्चक्खाणी असंख्यात गुण। मनुष्य में सबसे थोड़े सर्व-उत्तरगुण पच्चक्खाणी, उनसे देश-उत्तरगुण पच्चक्खाणी संख्यात गुण, उनसे अपच्चक्खाणी असंख्यात गुण।

6. अहो भगवन् ! जीव संयत हैं, असंयत हैं या संयतासंयत हैं ?

हे गौतम ! समुच्चय जीवों में तीनों भेद हैं और मनुष्य में भी तीनों भेद हैं। तिर्यच पंचेन्द्रिय में दो भेद हैं- असंयत और संयतासंयत। शेष 22 दण्डक में केवल असंयत ही हैं।

² संलेखना तप की गिनती देश उत्तरगुण के आठवें भेद के रूप में नहीं करने का कारण यह है कि दिशाव्रत आदि सात उत्तर गुण तो अवश्य देश उत्तर गुण रूप है, किन्तु संलेखना का नियम नहीं है। संलेखना देश उत्तरगुण वालों के लिये देश उत्तरगुण रूप है तथा सर्व उत्तरगुण वालों के लिए सर्व उत्तर गुण रूप है। देश उत्तर गुण वालों को भी संलेखना करने योग्य है, यह बतलाने के लिये अलग से बतलाया गया है।

³ इस शोकड़े में मनुष्य और तिर्यच पंचेन्द्रिय का विवेचन असत्री और सत्री दोनों की अपेक्षा से है।

अल्पबहुत्व- समुच्चय जीवों में सबसे थोड़े संयत, उनसे संयतासंयत असंख्यात गुण, उनसे असंयत अनन्त गुण। तिर्यच पंचेन्द्रिय में सबसे थोड़े संयतासंयत, उनसे असंयत असंख्यात गुण। मनुष्य में सबसे थोड़े संयत, उनसे संयतासंयत संख्यात गुण, उनसे असंयत असंख्यात गुण।

7. अहो भगवन् ! जीव पच्चक्खाणी हैं, पच्चक्खाणापच्चक्खाणी हैं या अपच्चक्खाणी हैं ?

हे गौतम ! समुच्चय जीव, तीनों प्रकार के हैं। मनुष्य में भी तीनों भेद हैं। तिर्यच पंचेन्द्रिय में बाद के दो भेद हैं। शेष 22 दण्डक में एक अपच्चक्खाणी ही हैं।

अल्पबहुत्व- समुच्चय जीवों में सबसे थोड़े पच्चक्खाणी, उनसे पच्चक्खाणापच्चक्खाणी असंख्यात गुण, उनसे अपच्चक्खाणी अनन्त गुण।

तिर्यच पंचेन्द्रिय में सबसे थोड़े पच्चक्खाणापच्चक्खाणी, उससे अपच्चक्खाणी असंख्यात गुण।

मनुष्य में सबसे थोड़े पच्चक्खाणी, उनसे पच्चक्खाणापच्चक्खाणी संख्यात गुण, उनसे अपच्चक्खाणी असंख्यात गुण।

8. अहो भगवन् ! जीव शाश्वत है या अशाश्वत ?

हे गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा जीव शाश्वत है और पर्याय की अपेक्षा अशाश्वत है। इसी प्रकार 24 दण्डक समझना चाहिए।

संज्ञा का थोकडा

(श्री पन्नवणा सूत्र पद आठ के आधार पर)

ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय के क्षयोपशम से एवं वेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा में होने वाली आहारादि की इच्छा को 'संज्ञा' कहते हैं।

संज्ञा दस प्रकार की हैं, यथा-

1. **आहार संज्ञा**- क्षुधा वेदनीय कर्म के उदय से ग्रासादि (कवलादि) रूप आहार को ग्रहण करने की अभिलाषा होना।
2. **भय संज्ञा**- भय मोहनीय कर्म के उदय से प्राणी के शरीर, नेत्र, मुख आदि में रोमांच, कम्पन्न, घबराहट आदि होना।
3. **मैथुन संज्ञा**- वेद मोहनीय कर्म के उदय से मैथुन सम्बन्धी विषय-भोगों को भोगने की विकार भावना होना।
4. **परिग्रह संज्ञा**- लोभ मोहनीय कर्म के उदय से सचित्त, अचित्त और मिश्र पदार्थों को आसक्ति पूर्वक ग्रहण करने की अभिलाषा होना।
5. **क्रोध संज्ञा**- क्रोध मोहनीय कर्म के उदय से कोपवृत्ति (गुस्सा) के अनुरूप चेष्टा होना।
6. **मान संज्ञा**- मान मोहनीय कर्म के उदय से अहंकार, दर्प, गर्व आदि की चेष्टा होना।
7. **माया संज्ञा**- माया मोहनीय कर्म के उदय से छल-कपट आदि की चेष्टा होना।
8. **लोभ संज्ञा**- लोभ मोहनीय कर्म के उदय से पदार्थों को पाने की अभिलाषा होना।
9. **लोकसंज्ञा**- लोक में रूढ़ किन्तु अन्धविश्वास, हिंसा, असत्य आदि के कारण हेय होने पर भी लोकरूढ़ि का अनुसरण करने की अभिलाषा होना। अथवा मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से संसार के सुन्दर, रूचिकर पदार्थों को विशेष रूप से जानने की अभिलाषा होना।
10. **ओघसंज्ञा**- बिना उपयोग (बिना सोचे-विचारे) धुन ही धुन में किसी कार्य को करने की प्रवृत्ति होना। जैसे बिना प्रयोजन के ही किसी वृक्ष पर चढ़ जाना, बैठे-बैठे पैर हिलाना, तिनके तोड़ना आदि। अथवा मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से संसार के सुन्दर, रूचिकर पदार्थों या लोकप्रचलित शब्दों के अनुरूप पदार्थों को सामान्य रूप से जानने की अभिलाषा होना।

समुच्चय जीव और 24 दण्डक के जीवों में ये दसों ही संज्ञाएँ पायी जाती हैं।

आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा पैदा होने के चार-चार कारण इस प्रकार हैं-

1. **आहार संज्ञा**- 1. पेट के खाली होने से, 2. क्षुधा-वेदनीय कर्म के उदय से, 3. आहार का चिन्तन करने से और 4. आहार के दृश्य देखने से।
2. **भय संज्ञा**- 1. अधीरता से (धैर्य के अभाव से), 2. भय मोहनीय कर्म के उदय से, 3. भय का चिन्तन करने से और 4. भय के दृश्य देखने से।
3. **मैथुन संज्ञा**- 1. शरीर की पुष्टता से, 2. वेद मोहनीय कर्म के उदय से, 3. मैथुन सम्बन्धी चिन्तन करने से और 4. मैथुन के दृश्य देखने से।
4. **परिग्रह संज्ञा**- 1. अत्यन्त इच्छा-मूर्च्छा होने से, 2. लोभ मोहनीय कर्म के उदय से, 3. परिग्रह का चिन्तन करने से और 4. परिग्रह के दृश्य देखने से।

चारों गति की अपेक्षा से उपर्युक्त चारों संज्ञाओं की अल्पबहुत्व- नारकी में सबसे कम मैथुन संज्ञा वाले, उससे अधिक आहार संज्ञा वाले संख्यात गुणा, उनसे परिग्रह संज्ञा वाले संख्यात गुणा और उनसे भय संज्ञा वाले संख्यात गुणा। (मै.आ.प.)

तिर्यच गति में सबसे कम परिग्रह संज्ञा वाले, उनसे मैथुन संज्ञा वाले, भय संज्ञा वाले व आहार संज्ञा वाले क्रमशः संख्यात गुणा। (प.मै.भ.)

मनुष्य गति में सबसे कम भय संज्ञा वाले, उनसे आहार, परिग्रह और मैथुन संज्ञा वाले क्रमशः संख्यात गुणा। (भ.आ.प.)

देवगति में सबसे कम आहार संज्ञा वाले, उनसे भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा वाले क्रमशः संख्यात गुणा।
(आ.भ.मै.)

चारों गति में उत्पन्न होने वाले जीवों में कौन-कौनसी संज्ञा अधिक पायी जाती हैं ?

नारकी से आये हुए जीव में क्रोध और भय संज्ञा अधिक पायी जाती हैं।

तिर्यचगति से आये हुए जीव में माया और आहार संज्ञा अधिक पायी जाती हैं।

मनुष्यगति से आये हुए जीव में मान और मैथुन संज्ञा अधिक पायी जाती हैं।

देवगति से आये हुए जीव में लोभ और परिग्रह संज्ञा अधिक पायी जाती हैं।

दस संज्ञा को उत्पन्न करने वाले कर्म-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से लोक और ओघ संज्ञा, वेदनीय कर्म के उदय से आहार संज्ञा और शेष सात संज्ञाएँ मोहनीय कर्म के उदय से होती हैं।

सवणे णाणे

श्री भगवती सूत्र के दूसरे शतक के पाँचवें उद्देशक में 'सवणे णाणे' के प्रश्नोत्तर इस प्रकार हैं -

सवणे णाणे य विण्णाणे, पच्चक्खाणे य संजमे ।

अणहये तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी ॥

1. प्रश्न- अहो भगवन् ! तथारूप श्रमण-माहण की पर्युपासना करने वाले पुरुष को उसकी पर्युपासना (सेवा) का क्या फल मिलता है ?
उत्तर- हे गौतम ! 'श्रवण' मिलता है अर्थात् सम्यक् शास्त्रों का सुनना मिलता है ।
2. प्रश्न- अहो भगवन् ! श्रवण का क्या फल है ?
उत्तर- हे गौतम ! श्रवण का फल ज्ञान (जानपना) है ।
3. प्रश्न- अहो भगवन् ! ज्ञान का क्या फल है ?
उत्तर- हे गौतम ! ज्ञान का फल 'विज्ञान' (हेयोपादेय का विशेष ज्ञान) है ।
4. प्रश्न- अहो भगवन् ! विज्ञान का क्या फल है ?
उत्तर- हे गौतम ! विज्ञान का फल 'पच्चक्खाण' है ।
5. प्रश्न- अहो भगवन् ! पच्चक्खाण का क्या फल है ?
उत्तर- हे गौतम ! पच्चक्खाण का फल 'संयम' है ।
6. प्रश्न- अहो भगवन् ! संयम का क्या फल है ?
उत्तर- हे गौतम ! संयम का फल 'अनास्रव' (आस्रव रहित होना) है ।
7. प्रश्न- अहो भगवन् ! अनास्रव का क्या फल है ?
उत्तर- हे गौतम ! अनास्रव का फल 'तप' है ।
8. प्रश्न- अहो भगवन् ! तप का क्या फल है ?
उत्तर- हे गौतम ! तप का फल 'वोदाण' (कर्मों का नाश) है ।
9. प्रश्न- अहो भगवन् ! वोदाण का क्या फल है ?
उत्तर- हे गौतम ! वोदाण का फल 'अक्रिया' (क्रिया रहित होना) है ।
10. प्रश्न- अहो भगवन् ! अक्रिया का क्या फल है ?
उत्तर- हे गौतम ! अक्रिया का फल 'सिद्धि' है ।

अखिल भारतीय श्री जैन रत्न आध्यात्मिक शिक्षण बोर्ड, जोधपुर

कक्षा : जैनागम स्तोक वारिधि - प्रथम कक्षा (05 जनवरी, 2014)

प्र. 1 निम्नलिखित प्रश्नों में से सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिए:-

10x1=(10)

- (a) वायुरूप ही जिन जीवों का शरीर है, उसे कहते हैं -
 क. वायुकाय ख. त्रसकाय
 ग. पृथ्वीकाय घ. वनस्पतिकाय (क)
- (b) चौदह पूर्वधारी अणुगार एक हाथ के पुतले के बराबर शरीर बनाते हैं, उसे कहते हैं
 क. औदारिक शरीर ख. वैक्रिय शरीर
 ग. आहारक शरीर घ. कार्मण शरीर (ग)
- (c) सम्यक्त्व के अभाव में सीधे आत्मा से होने वाली रूपी पदार्थों की मर्यादित जानकारी को कहते हैं -
 क. श्रुत-अज्ञान ख. विभंगज्ञान
 ग. मति-अज्ञान घ. केवलज्ञान (ख)
- (d) श्रद्धा के बीच होने वाले विक्षेपों को कहते हैं -
 क. दूषण ख. भूषण
 ग. लक्षण घ. प्रभावना (क)
- (e) कठिन तपस्या करके धर्म की उन्नति करने वाले कहलाते हैं -
 क. धर्म प्रभावक ख. प्रवचन प्रभावक
 ग. तपस्वी प्रभावक घ. वादी प्रभावक (ग)
- (f) भूषण कितने हैं -
 क. 5 ख. 3
 ग. 8 घ. 6 (क)
- (g) देशमूल पचचक्खाण में पालन किया जाता है -
 क. महाव्रतों का ख. अणुव्रतों का
 ग. शिक्षाव्रतों का घ. गुणव्रतों का (ख)
- (h) अद्धा तप के भेद हैं -
 क. 7 ख. 5
 ग. 10 घ. 3 (ग)
- (i) शरीर के पुष्ट होने से संज्ञा उत्पन्न होती है -
 क. मैथुन संज्ञा ख. आहार संज्ञा
 ग. परिग्रह संज्ञा घ. भय संज्ञा (क)
- (j) हेयोपादेय का विशेष ज्ञान कहलाता है -
 क. पचचक्खाण ख. ज्ञान
 ग. विज्ञान घ. संयम (ग)

प्र.2 निम्न प्रश्नों के उत्तर 'हाँ' अथवा 'नहीं' में लिखिए -

10x1=(10)

- (a) विपरीत श्रद्धान होना मिथ्यात्व गुणस्थान है। हाँ
- (b) जिन कारणों से आत्मा पर कर्म पुद्गलों का आगमन होता है, उसे संवर तत्त्व कहते हैं। नहीं
- (c) वाणव्यन्तर देवों का एक दण्डक होता है। हाँ
- (d) दुःखी जीवों के दुःखों को मिटाने की इच्छा अनुकम्पा है। हाँ
- (e) गुणियों के मलिन वेष को देखकर श्रद्धा करना विचिकित्सा है। नहीं
- (f) सर्वमूल गुण पचचक्खाण के पाँच भेद होते हैं। हाँ
- (g) मनुष्य व तिर्यच पंचेन्द्रिय में मूलगुण, उत्तरगुण और अपचचक्खाण ये तीनों भंग पाये जाते हैं। हाँ
- (h) मान मोहनीय कर्म के उदय से अहंकार आदि की चेष्टा होना 'माया' संज्ञा है। नहीं
- (i) जो तप आगामी काल में करना है, उसे पहले कर ले, उसे 'अणागय' कहते हैं। हाँ
- (j) तप का फल 'कर्मों का नाश' होता है। हाँ

प्र.3 प्रश्न एवं उत्तर दोनों क्रम से नहीं दिये हुए हैं, आप उत्तर की जोड़ी मिलाकर

सही उत्तर रिक्त स्थान में लिखिए -

10x1=(10)

- (a) बंध - (क) संज्ञा (च) 4
- (b) आभ्यन्तर तप - (ख) सागार (झ/य) 6
- (c) आत्मा - (ग) 3 (घ) 8
- (d) भवनपति - (घ) 8 (छ) 10

- (e) आगार - (च) 4 (झ/य) 6
 (f) शुद्धि - (छ) 10 (ग) 3
 (g) आहारादि की इच्छा - (ज) अनाश्रव (क) संज्ञा
 (h) अत्यन्त मूर्च्छा से - (झ) 6 (र) परिग्रह संज्ञा
 (i) संयम का फल - (य) 6 (ज) अनाश्रव
 (j) आगार सहित तप - (र) परिग्रह संज्ञा (ख) सागार

प्र.4 मुझे पहचानो -

10x2=(20)

- (a) मेरा स्थिर गुण है। अधर्मास्तिकाय
 (b) मेरे 240 विकार हैं। स्पर्शनेन्द्रिय
 (c) मेरा स्वभाव या गुण सड़न-गलन-विध्वंसन है। पुद्गलास्तिकाय
 (d) मेरी गति प्रायः तिरछे लोक में रहने वालों जीवों की गति है। तिर्यच गति
 (e) मेरा उदय नहीं होना सम है। अनन्तानुबन्धी कषाय
 (f) मेरे विषय में सन्देह करना शंका है। तत्त्व के विषय में
 (g) मैं प्रज्ञापना सूत्र के आठवें पद पर आधारित श्लोकड़ा हूँ। संज्ञा
 (h) मैं सर्वमूल गुण पञ्चवक्त्राणी हूँ। मनुष्य
 (i) मेरे उदय से कोपवृत्ति होती है। क्रोध संज्ञा
 (j) मेरा फल कर्मों का नाश है। तप

प्र.5 निम्नांकित प्रश्नों के उत्तर एक-दो वाक्यों में दीजिए - (कोई नौ) 9x2=(18)

- (a) त्रसकाय किसे कहते हैं?
 उ. हलन-चलन करने वाले जीवों के शरीर को 'त्रसकाय' कहते हैं। अथवा सुख पाने व दुःख से बचने के लिए जो विशेष प्रयत्न कर सके, उन्हें भी त्रस कहते हैं।
 (b) आकाशास्तिकाय के तीन भेद लिखिए।
 उ. 1. स्कन्ध, 2. देश और 3. प्रदेश।
 (c) संवर की परिभाषा लिखिए।
 उ. जिन कारणों से आत्मा पर आने वाले कर्म पुद्गलों को रोका जा सकें, उन्हें संवर कहते हैं।
 (d) शुद्धि किसे कहते हैं? वचन शुद्धि को समझाइए।
 उ. शुद्धि- विकृत श्रद्धा के निराकरण के प्रयत्न को 'शुद्धि' कहते हैं।
 वचन-शुद्धि- वाणी से वीतराग देव व सुगुरु का गुणगान करें, अन्य सरागी देव का नहीं करें।
 (e) वाणव्यन्तर देवों के भेद कौन-कौनसे हैं?
 उ. 16 वाणव्यन्तर- पिशाचादि (पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व) आणपन्ने आदि आठ (आणपन्ने, पाणपन्ने, इसिवाई, भूयवाई, कदे, महाकदे, कुहणडे, पयंगदेव)
 (f) लक्षण की परिभाषा लिखिए।
 उ. श्रद्धा होने पर जो गुण आवश्यक रूप से पाये जाने चाहिये, वे 'लक्षण' कहलाते हैं।
 (g) प्रभावना किसे कहते हैं? ये कितनी होती है?
 उ. जैन धर्म की उन्नति एवं प्रचार के लिए प्रयत्न करना 'प्रभावना' है। ये आठ होती हैं।
 (h) सर्वमूल गुण पञ्चवक्त्राण के कौन-कौनसे भेद होते हैं?
 उ. सर्वमूलगुण पञ्चवक्त्राण के 5 भेद हैं- सर्वथा प्रकार से हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह का त्याग करना अर्थात् पाँचों महाव्रतों का पालन करना।
 (i) सवणे गाणे के श्लोकड़े में भगवान श्रवण का क्या फल बताते हैं?
 उ. श्रवण का फल ज्ञान।
 (j) आभ्यन्तर तप की परिभाषा स्पष्ट कीजिए।
 उ. चित्त निरोध की प्रधानता द्वारा कर्मक्षय एवं आत्मगुणों का विकास करने वाली क्रियाएँ 'आभ्यन्तर तप' हैं। इसमें चित्त विशुद्धि प्रमुख है।
 प्र.6 निम्न प्रश्नों के उत्तर तीन-चार वाक्यों में दीजिए - (कोई आठ) 8x4=(32)
 (a) उपयोग किसे कहते हैं? इसके तीसरे, सातवें, नवें तथा ग्यारहवें भेदों के नाम लिखिए।
 उ. उपयोग- जीव की ज्ञान एवं दर्शनात्मक चेतनाशक्ति की प्रवृत्ति को 'उपयोग' कहते हैं। अर्थात् जीव जिस चेतना शक्ति के द्वारा वस्तु के सामान्य एवं विशेष रूप का ज्ञान करता है, उस ज्ञान करने की क्रिया को 'उपयोग' कहते हैं।
 3. अवधिज्ञान, 7. श्रुतअज्ञान, 9. चक्षुदर्शन, 11. अवधिदर्शन।
 (b) अंक 12 के भंग लिखिए।
 उ. अंक 12 के भंग नौ। एक करण और दो योग से कहना- 10. करूँ नहीं-मनसा, वयसा, 11. करूँ नहीं-मनसा, कायसा, 12. करूँ नहीं- वयसा, कायसा, 13. कराऊँ नहीं-मनसा, वयसा, 14. कराऊँ नहीं-मनसा, कायसा, 15. कराऊँ नहीं-वयसा, कायसा, 16. अनुमोदूँ नहीं-मनसा, वयसा, 17. अनुमोदूँ नहीं-मनसा, कायसा, 18. अनुमोदूँ नहीं- वयसा, कायसा।
 (c) निर्जरा किसे कहते हैं? इसके कौन-कौनसे भेद हैं?

- उ. जिन क्रियाओं से आत्मा के साथ बन्धे हुए कर्म-पुद्गलों को अंशत अलग या क्षीण किया जाता है, उसे निर्जरा कहते हैं। इसके दो भेद हैं- 1. सकाम निर्जरा- सम्यक्त्व के सद्भाव में व्रत-नियम आदि से होने वाली निर्जरा। 2. अकाम निर्जरा- मिथ्यात्व के सद्भाव में होने वाली निर्जरा।
- (d) श्रद्धान किसे कहते हैं? इसके कितने भेद हैं? वर्णन कीजिए।
- उ. श्रद्धान- तत्त्व श्रद्धा को जागृत करने तथा सुरक्षित रखने के उपायों को 'श्रद्धान' कहते हैं।
1. परमार्थ अर्थात् जीवादि नव तत्त्वों का परिचय प्राप्त करना।
 2. परमार्थ अर्थात् जीवादि नव तत्त्वों के स्वरूप को भली प्रकार जानने वाले आचार्य आदि के सेवा करना।
 3. जिन्होंने सम्यक्त्व का वमन कर दिया है, उन सत्-श्रद्धाभ्रष्ट पुरुषों की संगति नहीं करना।
 4. कुदृष्टि अर्थात् कुदर्शनियों की संगति का त्याग करना।
- (e) 'भूषण' का अर्थ लिखकर उसके प्रथम तीन भेदों को लिखिए।
- उ. भूषण- जिन प्रवृत्तियों से श्रद्धा में अधिक विशिष्टता आती हो, उन्हें 'भूषण' कहते हैं।
1. जिनशासन में निपुण व कुशल हों।
 2. जिनशासन की प्रभावना करें अर्थात् जिनशासन के गुणों को दीपावें व सुसाधुओं की सेवा-भक्ति करें।
 3. चार तीर्थ की सेवा करें।
- (f) ओघ संज्ञा की परिभाषा लिखिए।
- उ. बिना उपयोग (बिना सोचे-विचारे) धुन ही धुन में किसी कार्य को करने की प्रवृत्ति होना। जैसे बिना प्रयोजन के ही किसी वृक्ष पर चढ़ जाना, बैठे-बैठे पैर हिलाना, तिनके तोड़ना आदि। अथवा मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से संसार के सुन्दर, रुचिकर पदार्थों या लोकप्रचलित शब्दों के अनुरूप पदार्थों को सामान्य रूप से जानने की अभिलाषा होना।
- (g) लोक संज्ञा का आशय स्पष्ट कीजिए।
- उ. लोक में रूढ़ किन्तु अन्धविश्वास, हिंसा, असत्य आदि के कारण हेय होने पर भी लोकरूढ़ि का अनुसरण करने की अभिलाषा होना। अथवा मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से संसार के सुन्दर, रुचिकर पदार्थों को विशेष रूप से जानने की अभिलाषा होना।
- (h) सुपच्चक्खाण का भगवान ने क्या स्वरूप प्रतिपादित किया है?
- उ. जिसको ऐसा ज्ञान है कि 'ये जीव हैं, ये अजीव हैं, ये त्रस हैं, ये स्थावर हैं, इस प्रकार जानता हुआ वह कहता है कि मुझे सर्व प्राण, सर्व भूत, सर्व जीव और सर्व सत्त्व को मारने का त्याग है तो 1. वह सत्यवादी है, मृषावादी नहीं, 2. तीन करण तीन योग से संयत है, 3. विरत है, 4. पापकर्म का पच्चक्खाण किया है, 5. अक्रिय (आस्रव रहित) है, 6. संवृत (संवर सहित) है, 7. छह काया का रक्षक है, 8. एकान्त पण्डित-ज्ञानी है, उसके पच्चक्खाण, सुपच्चक्खाण है।
- (i) बाह्य तप के भेदों को अर्थ सहित लिखिए।
- उ. 1. अनशन- चार प्रकार के या तीन प्रकार के आहार का त्याग करना।
2. ऊनोदरी- भोजन की अधिक रुचि होने पर भी कम भोजन करना।
3. भिक्षाचर्या- शुद्ध आहार आदि की गवेषणा करना।
4. रसपरित्याग- विगयादि का त्याग करना, स्वाद पर विजय करना।
5. कायक्लेश- वीरासन आदि कष्टप्रद क्रिया करना।
6. प्रतिसंलीनता- इन्द्रियों को वश में करना तथा कषाय और योगों को रोकना।

अखिल भारतीय श्री जैन रत्न आध्यात्मिक शिक्षण बोर्ड, जोधपुर
कक्षा : जैनागम स्तोक वारिधि - प्रथम कक्षा (08 जनवरी, 2017)

प्र.1 निम्नलिखित प्रश्नों में से सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिए :- 10x1=(10)

- (a) किस शरीर में अस्थि मांस आदि होते हैं-
 (क) औदारिक (ख) वैक्रिय
 (ग) तैजस (घ) कार्मण (क)
- (b) 18 पापों में पापों की जड़ है-
 (क) मैथून (ख) मान
 (ग) मिथ्यादर्शनशल्य (घ) माया मृषावाद (ग)
- (c) जिन जीवों के परिणाम अत्यन्त क्रूर एवं निर्दयी होते हैं, वह है -
 (क) कृष्ण लेश्या (ख) कापोत लेश्या
 (ग) नील लेश्या (घ) शुक्ल लेश्या (क)
- (d) 'कपड़े व कैंची का दृष्टान्त' षट् द्रव्यों में किस द्रव्य का गुण है -
 (क) धर्मास्तिकाय (ख) अधर्मास्तिकाय
 (ग) आकाशास्तिकाय (घ) काल द्रव्य (घ)
- (e) विकृत श्रद्धा के निराकरण के प्रयत्न को कहते हैं -
 (क) भावना (ख) भूषण
 (ग) शुद्धि (घ) यतना (ग)
- (f) 67 बोलों में आगारों की संख्या है-
 (क) 5 (ख) 6
 (ग) 3 (घ) 9 (ख)
- (g) जो तप पहले करना था वह किसी कारण से नहीं हो सका तो पीछे करे, वह कहलाता है-
 (क) अणागयं (ख) सागारं
 (ग) अइक्कतं (घ) संकेयं (ग)
- (h) मनुष्य व तिर्यच पंचेन्द्रिय के अतिरिक्त शेष 22 दण्डक में अपचक्रखाणी के भेद हैं-
 (क) 3 (ख) 1
 (ग) 2 (घ) 4 (ख)
- (i) समुच्चय जीव और 24 दण्डक जीवों में संज्ञाएं पायी जाती हैं-
 (क) 4 (ख) 2
 (ग) 10 (घ) 6 (ग)
- (j) विज्ञान का फल क्या है -
 (क) ज्ञान (ख) दर्शन
 (ग) पचक्रखाण (घ) संयम (ग)

प्र.2 निम्न प्रश्नों के उत्तर 'हाँ' अथवा 'नहीं' में दीजिए :- 10x1=(10)

- (a) पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का चिन्तन करना सत्य मनोयोग है। (हाँ)
- (b) क्षपक श्रेणि के जीव दसवें गुणस्थान से सीधे बारहवें गुणस्थान में होते हुए तेरहवें गुणस्थान में जाकर केवली बन जाते हैं। (हाँ)
- (c) पुद्गलास्तिकाय भाव से अरूपी अजीव है। (नहीं)
- (d) जीव कभी भी अजीव नहीं बन सकता तथा अजीव कभी भी जीव नहीं बन सकता। (हाँ)
- (e) गुणियों के मलिन वेश को देखकर घृणा नहीं करना विचिकित्सा है। (नहीं)
- (f) अद्धातप के 10 भेद होते हैं। (हाँ)
- (g) बिना उपयोग के धुन ही धुन में कार्य करने की प्रवृत्ति को लोक संज्ञा कहते हैं। (नहीं)
- (h) देवगति से आये हुए जीवों में लोभ व परिग्रह संज्ञा अधिक पायी जाती है। (हाँ)
- (I) संयम का फल पचक्रखाण है। (नहीं)
- (j) वोदाण का फल क्रिया होता है। (नहीं)

प्र.3 निम्नलिखित में क्रम से जोड़ी मिलाकर उत्तर रिक्तस्थान में लिखिए:-10x1=(10)

- (a) रस परित्याग (क) देवलोक विगयादि का त्याग
- (b) स्तनितकुमार (ख) कापोत लेश्या भवनपति
- (c) अलसी के फूल के समान वर्ण (ग) विगयादि का त्याग कापोत लेश्या
- (d) आणत (घ) भवनपति देवलोक

(e)	पञ्चक्खाण के भेद	(च) 10	2
(f)	विनय के भेद	(छ) 2	10
(g)	अनास्रव	(ज) वोदाण	संयम का फल
(h)	तप का फल	(झ) संयम का फल	वोदाण
(I)	अत्यन्त मूर्च्छा	(य) माया संज्ञा	परिग्रह संज्ञा
(j)	छलकपट की चेष्टा	(र) परिग्रह संज्ञा	माया संज्ञा

प्र.4 मुझे पहचानो :- 10x2=(20)

- मैं रक्त, मांस, मज्जा अस्थि आदि स्थूल पुद्गलों से बना हूँ।
- मैं उपशम श्रेणि-क्षपक श्रेणि को प्रारम्भ करने वाला गुणस्थान हूँ।
- मेरा विषय तीखा, कड़वा, कषैला, खट्टा-मीठा है।
- संसार में उदासीनता रूप वैराग्य भाव का होना मेरा लक्षण है।
- जीव,अजीव, त्रस स्थावर का ज्ञान न होने पर भी सर्वभूत, सर्वजीव, सर्वसत्व को हनने का त्याग है उसके पञ्चक्खाण कहलाते हैं।
- जो एकान्त पण्डित ज्ञानी है उसके पञ्चक्खाण कहलाते हैं।
- किसमें थोड़े मूल गुण पञ्चक्खाणी, उससे उत्तर गुण पञ्चक्खाणी असंख्यात गुण उसमें अपञ्चक्खाणी असंख्यात गुण है।
- पेट का खाली होना मेरे पैदा होने का कारण है।
- मैं अक्रिया का फल हूँ।
- मैं हेय उपादेय का विशेष ज्ञान कहलाता हूँ।

औदरिक शरीर
निवृत्ति बादर गुणस्थान
रसनेन्द्रिय
निर्वेद

दुपञ्चक्खाण
सुपञ्चक्खाण

तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय
आहार संज्ञा
सिद्धि
विज्ञान

प्र.5 एक या दो वाक्यों में उत्तर दीजिए-

9x2=(18)

- काय किसे कहते हैं? छः काया के नाम लिखिए।
- शरीर के आधार पर जीवों के बनाये हुए समूह को काय कहते हैं।
नाम- 1.पृथ्वीकाय, 2. अप्काय, 3. तेऊकाय, 4. वायुकाय, 5. वनस्पतिकाय, 6. त्रसकाय
- वैक्रिय शरीर के दो भेदों के नाम लिखिए।
उ. 1. भवप्रत्यय 2. लब्धि प्रत्यय
- घ्राणेन्द्रिय के विषय व विकार लिखिए।
उ. 1. सुरभिगंध, 2. दुरभिगंध । 2 सचित्त, 2 अचित्त, 2 मिश्र । 6 पर राग, 6 पर द्वेष, इस प्रकार 12विकार हुए।
- बाह्य तप के छः भेदों के नाम लिखिए।
उ. 1. अनशन, 2. ऊनोदरी, 3. भिक्षाचर्या, 4. रसपरित्याग, 5. काय क्लेश, 6 प्रतिसल्लीनता
- देवादि सुगति की दायक तीन लेश्याओं के नाम लिखिए।
उ. 1. तेजोलेश्या, 2. पद्मलेश्या, 3. शुक्ल लेश्या
- दूषण को परिभाषित कीजिए।
उ. श्रद्धा के बीच होने वाले विक्षेपों को दूषण कहते हैं।
- 67 बोल के आधार पर स्थानक को परिभाषित कीजिए एवं उसके कोई दो भेद लिखिए।
उ. धर्म की उत्पत्ति एवं धर्म में सहायक होने वाले स्थान को स्थानक कहते हैं।
1. जीव चेतना लक्षण युक्त है।
2. जीव शाश्वत अर्थात् उत्पत्ति और विनाश रहित है।
3. जीव शुभाशुभ कर्मों का कर्ता है।
4. जीव किये हुए कर्मों (सुख-दुःख) का स्वयं भोक्ता है।
5. भव्य जीव कर्मों का क्षय करके मोक्ष में जाता है।
6. सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप मोक्ष के उपाय हैं।
नोट- इनमें से कोई दो भेद मान्य है।
- यतना के कोई दो भेदों को परिभाषित कीजिए।
उ. 1. आलाप- मिथ्यादृष्टि से बिना कारण न बोलें और सम्यग्दृष्टि से ज्ञान चर्चा के लिए बोलें।
2. संलाप- मिथ्यादृष्टि से विशेष भाषण न करें और सम्यग्दृष्टि से बार-बार चर्चा अवश्य करें।
3. दान- मिथ्यादृष्टि को गुरु बुद्धि से दान न दें, लेकिन अनुकम्पावश दान देने के लिए निषेध नहीं है।
सम्यग्दृष्टि को गुरु बुद्धि से दान दें।
4. मान- सम्यग्दृष्टि का बहुत आदर-सम्मान करें, मिथ्यादृष्टि का नहीं।
5. वन्दना- सम्यग्दृष्टि को वन्दना करे। मिथ्यादृष्टि को नहीं।
6. गुणग्राम- सम्यग् दृष्टि के गुणों का वर्णन करें। मिथ्यादृष्टि का नहीं।
नोट- इनमें से कोई दो भेद मान्य है।
- सवणे नाणे में भगवान अक्रिया का क्या फल बताते हैं?
उ. अक्रिया का फल सिद्धि बताते हैं।

प्र.5 निम्न प्रश्नों के उत्तर तीन-चार वाक्यों में लिखिए : -

8x4=(32)

- (a) अधर्मास्तिकाय को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, गुण से स्पष्ट कीजिए।
- उ. 1. द्रव्य से- एक द्रव्य, 2. क्षेत्र से- सम्पूर्ण लोक प्रमाण, 3. काल से- आदि अन्त रहित, भाव से- वर्ण नहीं, गंध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं, अरूपी, अजीव, शाश्वत, लोकव्यापी और असंख्यात प्रदेशी है। 5. गुण से- स्थिर गुण। थके हुए पथिक को छाया का दृष्टान्त। जिस प्रकार से थके हुए पथिक के रुकने-ठहरने में छाया निमित्त-सहायक बनती है, उसी प्रकार ठहरे हुए जीव और पुद्गल में अधर्मास्तिकाय सहायक बनती है।
- (b) सकाम निर्जरा व अकाम निर्जरा को परिभाषित कर भाव स्पष्ट कीजिए।
- उ. सकाम निर्जरा- सम्यक्त्व के सदभाव में जो व्रत-नियम, त्याग, तप आदि किया जाता है, उनसे होने वाली कर्मों की निर्जरा को 'सकाम निर्जरा' कहते हैं। यह निर्जरा ही मुक्ति को प्राप्त करने में सहायक बनती है। अकाम निर्जरा- मिथ्यात्व और अज्ञान के सदभाव में होने वाली कर्मों की निर्जरा को 'अकाम निर्जरा' कहते हैं। यह निर्जरा पराधीनतापूर्वक या अज्ञानपूर्वक तप करने से होती है। दूसरी अपेक्षा से प्रत्येक जीव के बंधे हुए कर्म उदय में आकर आत्मा से अलग होते रहते हैं, उसे भी 'अकाम निर्जरा' कहते हैं।
- (c) स्पर्शनेन्द्रिय के विषय व विकार लिखिए।
- उ. स्पर्शनेन्द्रिय के आठ विषय- 1. कर्कश (खुरदरा), 2. मृदु (कोमल), 3. लघु (हल्का), 4. गुरु (भारी), 5. शीत (ठण्डा), 6. उष्ण (गर्म), 7. रूक्ष (लूखा) और 8. स्निग्ध (चिकना)।
विकार- ये 8 सचित्त, 8 अचित्त, 8 मिश्र, ये 24 शुभ और 24 अशुभ, इन 48 पर राग और 48 पर द्वेष। इस प्रकार 96 विकार।
- (d) श्रद्धान किसे कहते हैं? इसके 4 भेद लिखिए।
- श्रद्धान- तत्त्व श्रद्धा को जागृत करने तथा सुरक्षित रखने के उपायों को 'श्रद्धान' कहते हैं।
भेद- 1. परमार्थ अर्थात् जीवादि नव तत्त्वों का परिचय प्राप्त करना।
2. परमार्थ अर्थात् जीवादि नव तत्त्वों के स्वरूप को भली प्रकार जानने वाले आचार्य आदि की सेवा करना।
3. जिन्होंने सम्यक्त्व का वमन कर दिया है, उन सत्-श्रद्धाभ्रष्ट पुरुषों की संगति नहीं करना।
4. कुदृष्टि अर्थात् कुदर्शनियों की संगति का त्याग करना।
- (e) विनय के कोई चार भेद लिखिए।
1. अरिहन्त भगवान की विनय भक्ति करना।
2. सिद्ध भगवान की विनय भक्ति करना।
3. आचार्य महाराज की विनय भक्ति करना।
4. उपाध्याय महाराज की विनय भक्ति करना।
5. स्थविर महाराज की विनय भक्ति करना।
6. कुल अर्थात् एक आचार्य के शिष्य समुदायों की विनय भक्ति करना।
7. गण अर्थात् अनेक आचार्यों के शिष्य समुदायों की विनय भक्ति करना।
8. चतुर्विध संघ की विनय भक्ति करना।
9. साधर्म्य की विनय भक्ति करना।
10. क्रियावान की विनय भक्ति करना।
नोट- इनमें से कोई चार भेद मान्य है।
- (f) आगार किसे कहते हैं? राजाभियोग, गणाभियोग, बलाभियोग को परिभाषित कीजिए।
- उ. आगार- व्रत अंगीकार करते समय रखी जाने वाली छूट को 'आगार' कहते हैं।
राजाभियोग- राजा की पराधीनता से यदि समकितधारी श्रावक को अनिच्छा पूर्वक अन्यतीर्थिक तथा उसके माने हुए देवता को वंदना नमस्कार करना पड़े तो श्रावक सम्यक्त्व व्रत का अतिक्रमण नहीं करता।
गणाभियोग- गण अर्थात् बहुजन समुदाय के आग्रह से अनिच्छा पूर्वक अन्यतीर्थिक तथा उसके माने हुए देवता को वंदना नमस्कार करना पड़े तो श्रावक सम्यक्त्व व्रत का अतिक्रमण नहीं करता।
बलाभियोग- बलवान् पुरुष द्वारा विवश किये जाने पर अनिच्छा पूर्वक अन्यतीर्थिक तथा उसके माने हुए देवता को वंदना नमस्कार करना पड़े तो श्रावक सम्यक्त्व व्रत का अतिक्रमण नहीं करता।
- (g) सर्वोत्तर गुण पञ्चवस्त्राण के दस भेदों में से प्रथम चार भेदों को समझाइए।
- उ. 1. अणागयं- जो तप आगामी काल में करना है, वह पहले कर लें।
2. अइक्कतं- जो तप पहले करना था, वह किसी कारण से नहीं हो सका तो पीछे करें।
3. कोडीसहियं- पूर्व तप की समाप्ति और उत्तर तप का प्रारम्भ, ये दोनों कोटियाँ जिस तप में मिलती हैं। अर्थात् पूर्व तप का पारणा हो और दूसरे दिन से नये तप का प्रारम्भ होता है। उसे कोटि सहित तप कहते हैं। जैसे-रत्नावली, कनकावली आदि।
4. णियटियं- नियमित दिन में विघ्न आने पर भी धारा हुआ व्रत अवश्य करें।
- (h) आहार संज्ञा, भय संज्ञा के उत्पन्न होने के चार-चार कारण लिखिए।
- उ. आहार संज्ञा- 1. पेट के खाली होने से, 2. क्षुधा-वेदनीय कर्म के उदय से, 3. आहार का चिन्तन करने से और 4. आहार के दृश्य देखने से।
भय संज्ञा- 1. अधीरता से (धैर्य के अभाव से), 2. भय मोहनीय कर्म के उदय से, 3. भय का चिन्तन करने से, 4. भय के दृश्य देखने से।

अखिल भारतीय श्री जैन रत्न आध्यात्मिक शिक्षण बोर्ड, जोधपुर

कक्षा : प्रथम - जैनागम स्तोक वारिधि (परीक्षा 07 जनवरी, 2018)

समय : 3 घण्टे

अंक : 100

प्र.1 निम्नलिखित प्रश्नों में से सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिए :-

10x1=(10)

- (a) उत्कृष्ट छह आवलिका की स्थिति वाला गुणस्थान है-
(क) मिथ्यात्व (ख) सास्वादन
(ग) निवृत्ति बादर (घ) सूक्ष्म संपराय (ख)
- (b) पच्चक्खाण का फल है-
(क) ज्ञान (ख) अनास्रव
(ग) संयम (घ) सिद्धि (ग)
- (c) मध्य के 22 तीर्थकरों के समय यह चारित्र नहीं पाया जाता है -
(क) परिहार विशुद्धि (ख) सामायिक
(ग) यथाख्यात (घ) सूक्ष्म संपराय (क)
- (d) "मिथ्यादृष्टि को अनुकम्पावश दान देने का निषेध नहीं है" यह किसका भेद है -
(क) आगार (ख) लक्षण
(ग) यतना (घ) प्रभावना (ग)
- (e) "करुँ नहीं अनुमोदू नहीं-मनसा कायसा" भंग है -
(क) 27वाँ (ख) 32वाँ
(ग) 38वाँ (घ) 35वाँ (घ)
- (f) सुपच्चक्खाण का थोकड़ा भगवती सूत्र में से लिया है-
(क) शतक 2 उद्देशक 7 (ख) शतक 7 उद्देशक 2
(ग) शतक 1 उद्देशक 7 (घ) शतक 7 उद्देशक 1 (ख)
- (g) तिर्यच गति में सबसे कम संज्ञा होती है-
(क) आहार (ख) भय
(ग) मैथुन (घ) परिग्रह (घ)
- (h) एक जीव में आत्म प्रदेशों की संख्या है-
(क) संख्यात (ख) असंख्यात
(ग) अनन्त (घ) एक (ख)
- (i) अनाहारक अवस्था में पाया जाने वाला योग है-
(क) कर्मण (ख) ओदारिक मिश्र
(ग) वैक्रिय मिश्र (घ) वैक्रिय (क)
- (j) समकित, धर्म रूपी प्रासाद की है -
(क) पेटी (ख) दरवाजा
(ग) दुकान (घ) नीव (घ)

प्र.2 निम्न प्रश्नों के उत्तर 'हाँ' अथवा 'नहीं' में दीजिए :- 10x1=(10)

- (a) महाविदेह क्षेत्र में परिहार विशुद्धि चारित्र नहीं होता है। (हाँ)
- (b) संलेखना सर्वोत्तर गुण रूप ही है। (नहीं)
- (c) दृष्टान्तपूर्वक अन्यमतियों से वाद करके धर्म को दीपाने वाला धर्मकथा प्रभावक है। (नहीं)
- (d) किन्नर परमाधामी देव है। (नहीं)
- (e) स्व और पर का भेद-विज्ञान होना सम्यग्दृष्टि है। (हाँ)
- (f) उपशांत मोहनीय गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त नहीं है। (नहीं)
- (g) 'परमाणु' पुद्गल का भेद है। (हाँ)
- (h) संज्ञा का थोकड़ा भगवती सूत्र से लिया गया है। (नहीं)
- (i) द्रव्य की अपेक्षा जीव अशाश्वत है। (नहीं)
- (j) मोक्ष की तीव्र इच्छा 'संवेग' है। (हाँ)

प्र.3 निम्नलिखित में क्रम से जोड़ी मिलाकर उत्तर रिक्तस्थान में लिखिए:- 10x1=(10)

- | | | |
|---------------------|-----------------------------|-------------------------|
| (a) वीरासन | (क) कृष्ण लेश्या | कायक्लेश |
| (b) पृच्छना | (ख) जीवास्तिकाय | स्वाध्याय |
| (c) निर्दयी | (ग) देशावगासिक व्रत | कृष्ण लेश्या |
| (d) मायावी | (घ) उपभोग-परिभोग | नील लेश्या |
| (e) चन्द्रमा की कला | (च) काल-द्रव्य | जीवास्तिकाय |
| (f) 14 नियम | (छ) सर्व उत्तरगुण पच्चक्खाण | देशावगासिक व्रत |
| (g) असंवृत | (ज) काय-क्लेश | दुपच्चक्खाण |
| (h) वर्तन गुण | (झ) नील लेश्या | कालद्रव्य |
| (i) सागारं | (य) दुपच्चक्खाण | सर्व उत्तरगुण पच्चक्खाण |
| (j) कर्मादान | (र) स्वाध्याय | उपभोग-परिभोग |

प्र.4 मुझे पहचानो :-

10x2=(20)

- (a) मैं शरीर की पुष्टता के कारण पैदा होती हूँ। मैथुन संज्ञा
- (b) मैं धर्म रूपी भोजन का थाल हूँ। समकित
- (c) मेरी आराधना नौ मुनि एक साथ करते हैं। परिहार विशुद्धि चारित्र
- (d) मेरा आकार सिंघाडे के सामान है। त्रिभुज संस्थान
- (e) मैं बादलों की तरह मिलता व बिखरता हूँ। पुद्गल
- (f) मेरा वर्ण हल्दी के टुकड़े व पटसन के फूल के सामान पीला होता है। पद्म लेश्या
- (g) मेरी प्राप्ति घाति कर्मों के क्षय होने पर होती है। केवलज्ञान/केवल दर्शन /सयोगी केवली
- (h) हम कर्मों का क्षय करके मोक्ष में जाते हैं। भव्य जीव
- (i) मैं तीसरी नरक तक के जीवों को वेदना देता हूँ। परमाधामी देव
- (j) मेरे द्वारा मात्र वर्तमान की ही जानकारी होती है। मतिज्ञान

प्र.5 एक या दो वाक्यों में उत्तर दीजिए-

9x2=(18)

- (a) पडिवाई को समझाइए।
- उ. जिन जीवों ने एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया है, किन्तु सम्यक्त्व का वमन कर देने से वर्तमान में मिथ्यात्व दशा में है।
- (b) इत्वरिक सामायिक चारित्र का काल कितना होता है?
- उ. जघन्य सात दिन, मध्यम 4 महिने व उत्कृष्ट 6 माह होता है।
- (c) आस्रव तत्त्व की परिभाषा लिखिए।
- उ. जिन कारणों से आत्मा पर कर्म पुद्गलों का आगमन होता है, उन कारणों को आस्रव तत्त्व कहते हैं।
- (d) अजीव राशि में स्पर्श के भेद बताइए।
- उ. आठ स्पर्श के 184 भेद- कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष इन आठ स्पर्शों में प्रत्येक के 5 वर्ण, 2 गंध, 5 रस, 6 स्पर्श और 5 संस्थान। इन 23 भेदों से गुणा करने पर $23 \times 8 = 184$ भेद हुए।
- (e) 49 भंगों में से 37वाँ व 23वाँ भंग लिखिए।
- उ. 37वाँ भंग- कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं- मनसा वयसा
23वाँ- करूँ नहीं, कराऊँ नहीं-वयसा

- (f) प्रभावना को परिभाषित कीजिए।
 उ. जैन धर्म की उन्नति एवं प्रचार के लिए प्रयत्न करना 'प्रभावना' है और जैन धर्म की उन्नति करने वाला प्रभावक कहलाता है।
- (g) नियंतियं को समझाइए।
 उ. णियंतियं- नियमित दिन में विध्न आने पर भी धारा हुआ तप अवश्य करें।
 (h) मनुष्य गति से आये हुये जीव में संज्ञा किस क्रम से कम-अधिक पाई जाती है?
 उ. भय, आहार, परिग्रह और मैथुन संज्ञा।
 (l) वित्तिगिच्छा को परिभाषित कीजिए।
 उ. धार्मिक क्रिया के विषय में फल के प्रति संदेह करना व गुणियों के मलिन वेष को देखकर घृणा करना 'वित्तिगिच्छा' है।

प्र.5 निम्न प्रश्नों के उत्तर तीन-चार वाक्यों में लिखिए :-

8x4=(32)

- (a) नरक गति की अपेक्षा संज्ञा का अल्प बहुत्व लिखिए।
 उ. नारकी में सबसे कम मैथुन संज्ञा वाले, उससे अधिक आहार संज्ञा वाले संख्यात गुणा, उनसे परिग्रह संज्ञा वाले संख्यात गुणा और उनसे भय संज्ञा वाले संख्यात गुणा।
- (b) शुद्धि को परिभाषित कर उसके भेदों के नाम लिखिए।
 उ. विकृत श्रद्धा के निराकरण के प्रयत्न को शुद्धि कहते हैं। इसके तीन भेद हैं-
 1. मनशुद्धि 2. वचन शुद्धि 3. काय-शुद्धि
- (c) अद्धा तप किसे कहते हैं ? उसके भेदों के नाम लिखिए।
 उ. अद्धा- काल का परिमाण कर तप करें। अद्धातप के 10 भेद हैं-1. नवकारसी, 2. पोरिसी, 3. दो पोरिसी, 4. एकासन, 5. एकलठाणा, 6. आयम्बिल, 7. नीवि, 8. उपवास, 9. अभिग्रह और 10. दिवस-चरिम।
- (d) लोक संज्ञा को समझाइए।
 उ. लोक में रूढ़ किंतु अंधविश्वास, हिंसा, असत्य आदि के कारण हेय होने पर भी लोकरूढ़ि का अनुसरण करने की अभिलाषा होना। अथवा मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से संसार के सुन्दर, रुचिकर पदार्थों को विशेष रूप से जानने की अभिलाषा होना।

(e) 49 भंग में से अंक 21 के बनने वाले भंग लिखिए।

उ. अंक 21 के भंग नौ। दो करण और एक योग से कहना-

1. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं-मनसा,
2. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं-वयसा,
3. करूँ नहीं, कराऊँ नहीं-कायसा,
4. करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-मनसा,
5. करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-वयसा,
6. करूँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-कायसा,
7. कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-मनसा,
8. कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं-वयसा,
9. कराऊँ नहीं, अनुमोदूँ नहीं- कायसा।

(f) नौ लोकात्मिक तथा नवग्रैवेयक के नाम लिखिए।

उ. 9 लोकात्मिक- 1. सारस्वत, 2. आदित्य, 3. वह्नि, 4. वरुण, 5. गर्दतोय,
6. तुषित, 7. अव्याबाध, 8. आग्नेय और 9. अरिष्ट।

9 ग्रैवेयक- 1. भद्र, 2. सुभद्र, 3. सुजात, 4. सुमनस,
5. सुदर्शन, 6. प्रियदर्शन, 7. आमोह, 8. सुप्रतिबद्ध और यशोधर।

(g) विषय और विकार का अर्थ स्पष्ट करते हुए घ्राणेन्द्रिय के विकार लिखिए।

उ. विषय- जो इन्द्रियों पुद्गल के जिन गुण-धर्म को ग्रहण करती हैं, वे उस इन्द्रिय के 'विषय' कहलाते हैं। अर्थात् इन्द्रियों के माध्यम से जीव जिन शब्द आदि को ग्रहण करता है उसे 'विषय' कहते हैं।

विकार- ग्रहण किये गये विषयों को अच्छा-बुरा मानकर उन पर राग-द्वेष करना 'विकार' कहलाता है।

घ्राणेन्द्रिय के 2 विषय- 1. सुरभिगंध 2. दुरभिगंध।

विकार- ये 2 सचित्त, 2 अचित्त और 2 मिश्र। इन 6 पर राग और 6 पर द्वेष। इस प्रकार 12 विकार।

(h) उपशम श्रेणि किसे कहते हैं ?

उ. दर्शन सप्तक के क्षय या उपशम करने के बाद मोहनीय कर्म की शेष 21 प्रकृतियों को दबाते हुए अर्थात् उपशमन करते हुए आगे के गुणस्थान में बढ़ना 'उपशम श्रेणि' है।